मेरी कहानी



कमला दास

मेरी कहानी



सरस्वती विहार
२१, दयानन्द मार्ग, दरियागंज
नई दिल्ली-११०००२

अनुवादक

सुदर्शन चोपड़ा

मूल्य : बीस रुपये (20.00)

ायम संस्करण : 1977

रकाशक : सरस्वती विहार
21, दरियागंज, नई दिल्ली

मुद्रक : मॉडर्न प्रि
नवीन शाहदरा, दि

MERI KAHANI (Autobiography) by Kamla Dass

भूमिका

'मेरी कहानी' मेरी आत्मकथा है। जब मुझे पहला गंभीर दिल का दौरा पड़ा था, तब यह लिखनी शुरू की थी। डॉक्टर का खयाल था कि लिखने से मेरा मन मृत्यु-भय से हटा रहेगा। इसके अलावा अस्पताल के बिल भी तो चुकाने थे मुझे। मैंने एक पत्रिका के संपादक को तार भेज दिया। वह अपनी पत्रिका में धारावाहिक प्रकाशन के लिए मेरी आत्मकथा की मांग करता आ रहा था। एक ही दिन बाद वह आ पहुंचा। सारी किस्तों के पारिश्रमिक का अग्रिम ही भुगतान कर गया। जोखिम उठा रहा था वह, क्योंकि मैं तो उन दिनों बहुत बीमार थी और ऐसा नहीं लगता था कि कुछ ही अध्यायों से अधिक मैं लिख पाऊंगी। फिर भी उसने मेरा हाथ थामकर यह सौदा मंजूर कर लिया। बस, उसी क्षण से इस पुस्तक ने मुझे थाम लिया और ले उड़ी मुझे मेरे अतीत की ओर। गोया पुस्तक न होकर यह कोई मोटरचालित किश्ती हो, जो रात के समय स्याह पानियों को चीरती हुई तीव्र गति से भागी जा रही है। नींद की दवाइयों के कारण आने वाली कुछ-कुछ घंटों की नींद के बीच-बीच में जितना भी समय मुझे मिलता, मैं लगातार लिखती रहती। उस पत्रिका के प्रति प्रतिबद्ध हो चुकी थी, मात्र इस कारण ही नहीं, बल्कि मैं चाहती थी कि स्वयं को उड़ेल दूं' कोई-सा भी तो रहस्य रुका-छिपा न रहने दूं ताकि जब समय आए मेरी कूच का तो विदा हो सकूं मैं एकदम से साफ-शफाफ अंत:करण लिए।

लेकिन मैं तो ठीक-ठाक हो गई। लगा कि चरमोत्कर्ष आ पहुंचा है मेरी कहानी का। उस पत्रिका के अंकों में किस्तें छपनी आरंभ हो गईं 'मेरी कहानी' की। केरल-भर के बुक-स्टालों पर जाती थी वह पत्रिका। पढ़-पढ़कर परेशान होने लगे मेरे रिश्तेदार, क्योंकि मैंने अपने प्रसिद्ध परिवार को लांछित किया था, अपने कानूनी पति के इतर किसी अन्य पुरुष से अपने प्यार का किस्सा अपने पाठकों को सुनाकर। यही क्यों, मैंने तो यहां तक स्वीकार कर लिया था कि छैला किस्म के

पुरुषों पर तो मैं मर मिटती रही हूं। इसके छपने के बाद जब मैं कुछ दिन को अपने प्रांत में रह गई तो किसीने मुझसे ढंग से बात भी न की। मैं फटाफट बम्बई लौट गई। इस पुस्तक ने मुझसे बहुत कुछ छीना है। ऐसा कुछ भी, जो मुझे बहुत प्रिय था। फिर भी मुझे कोई मलाल नहीं है इसे लिखने का। अपने जीवन में मैंने कई पुस्तकें लिखी हैं, परंतु किसीको भी लिखकर मुझे ऐसा आनंद नहीं मिला, जैसा कि इस 'मेरी कहानी' को लिखने से मिला है। बस, इससे अधिक मुझे कुछ नहीं कहना।

—कमला दास



क्रम

गोरों के स्कूल में काले बच्चे की दीन-हीन स्थिति / ११
बचपन के दुःस्वप्न और एकमात्र 'अच्छा मित्र' / १४
मेरी हर कविता मुझे रुला गई / १७
रसिक मुखिया की भेंट 'नलपत हाउस' / १६
गुप्त दराज में सुगंधित भूरी बोतल / २२
उसके आकर्षण ने मुझे मोह लिया था / २४
भद्र नायर स्त्रियां सेक्स का नाम नहीं लेतीं / २७
अकेली देवी / ३०
वह हर रात किसी प्रेत के साथ कैसे बिता सकते थे ! / ३२
वह तो प्यार मे नीम पागल थी; उसे मेरी सुध कहां ! / ३५
घाट-घाट की लड़कियां एक बोर्डिंग स्कूल में / ३८
घरेलू किस्म की एनी को सुन्दर प्रेमी मिला / ४१
भक्तिनें हमारा हर खत पढ़तीं / ४४
मैं एक अमीर आदमी से शादी करना चाहती थी / ४८
हमें तरह-तरह से सताया जाता / ५१
मैंने सूर्य भगवान से एक बेटे का वर मांगा / ५४
एक सुबह संन्यासी तो चला, रह गई सिर्फ अफीम की गंध / ५७
क्या हर विवाहित वयस्क बिस्तर पर विदूषक बन जाता है या फिर सरकस
का जानवर ? / ६१
अजीब थी उसकी आवाज आसान था उसके प्यार में उलझ जाना / ६५
वह मुझे भींचे पड़ी रहा करती / ६६
वह मेरे शरीर को बेतरह मसलता; नील पड़ जाया करते मेरे जिस्म पर / ७३
सुहागरात / ७८
प्यार के लिए गिन्नी / ८२
जब मैंने नौकर को नींद की गोलियां लाने भेजा / ८६
रक्तरंजित चांदनी / ८८

पुरुषों पर तो मैं मर मिटती रही हूं। इसके छपने के बाद जब मैं कुछ दिन को अपने प्रांत में रह गई तो किसीने मुझसे ढंग से बात भी न की। मैं फटाफट बम्बई लौट गई। इस पुस्तक ने मुझसे बहुत कुछ छीना है। ऐसा कुछ भी, जो मुझे बहुत प्रिय था। फिर भी मुझे कोई मलाल नहीं है इसे लिखने का। अपने जीवन में मैंने कई पुस्तकें लिखी हैं, परंतु किसीको भी लिखकर मुझे ऐसा आनंद नहीं मिला, जैसा कि इस 'मेरी कहानी' को लिखने से मिला है। बस, इससे अधिक मुझे कुछ नहीं कहना।

—कमला दास

क्रम

गोरों के स्कूल मे काले बच्चे की दीन-हीन स्थिति / ११
बचपन के दु स्वप्न और एकमात्र 'अच्छा मित्र' / १४
मेरी हर कविता मुझे रुला गई / १७
रसिक मुखिया की भेंट 'नलपत हाउस' / १६
गुप्त दराज में सुगंधित भूरी बोतल / २२
उसके आकर्षण ने मुझे मोह लिया था / २४
भद्र नागर स्त्रियां सेक्स का नाम नहीं लेतीं / २७
अकेली देवी / ३०
वह हर रात किसी प्रेत के साथ कैसे बिता सकते थे ! / ३२
वह तो प्यार मे नीम पागल थी; उसे मेरी सुध कहां ! / ३५
घाट-घाट की लड़कियां एक बोर्डिंग स्कूल में / ३८
घरेलू किस्म की एली को सुन्दर प्रेमी मिला / ४१
भक्तिनें हमारा हर खत पढ़तीं / ४४
मैं एक अमीर आदमी से शादी करना चाहती थी / ४८
हमें तरह-तरह से सताया जाता / ५१
मैंने सूर्य भगवान से एक बेटे का वर मांगा / ५४
एक सुबह संन्यासी तो चला, रह गई सिर्फ अफीम की गंध / ५७
क्या हर विवाहित वयस्क बिस्तर पर विदूषक बन जाता है या फिर सरकस
का जानवर ? / ६१
अजीब थी उसकी आवाज़: आसान था उसके प्यार में उलझ जाना / ६५
वह मुझे भींचे पड़ी रहा करती / ६६
वह मेरे शरीर को बेतरह मसलता; नील पड़ जाया करते मेरे जिस्म पर / ७२
सुहागरात / ७८
प्यार के लिए मिली / ८२
जब मैंने नौकर को नींद की गोलियां खाते देखा / ८६
स्ट्रीटलाइट चांदनी / ८८

९१ / अन्धकार का पहला अध्याय
९५ / जब मैं पहली बार संपूर्ण-समर्पित हुई
१०० / मैं तो अपना प्यार देने को तैयार थी, लेने वाला ही न था कोई…
१०३ / मुझे अभी तक चाह थी अपने उस भूरी आंखों वाले की
१०६ / सेक्स और सहकारी आंदोलन
१११ / वह चुपचाप मेरे आगे-आगे चलता रहा
११६ / सुखद मृत्यु की शुरुआत थी यह
१२० / और मेरी दादी नहीं रही
१२४ / वह बार-बार मुझे फोन करता
१२८ / कलकत्ता की कॉकटेल पार्टियां
१३३ / मैं थी कार्लो की सीता
१३७ / जब कलकत्ता में मैंने पहली-पहली बार हीजड़े नाचते देखे
गंधीली और अंधेरी गलियां दिल्ली की…जहां मैं स्वयं को जवान महसूस
१४२ / किया करती
१४६ / कालीकट में पागल ही पागल
१५१ / उबरी थी मैं अपने व्यतीत की राख से—फीनिक्स पक्षी की तरह
१५६ / जब मैं अपनी ही बनाई गुफाओं में सिमट गई थी
१६१ / मेरा अंतिम प्रेमी : सांवला-सलोना
१६६ / 'मैंने भी कुछ देर व्यभिचार किया'
१७३ / मैं तो कभी भी अति कामुक नहीं रही…
१७८ / नलपत को वापसी : क्या मेरे २४ वर्षीय दाम्पत्य की चूलें हिल गयीं थीं
सिर्फ अमीरों को ही मुझसे नफरत थी…और वही फैलाते मेरे बारे
१८४ / में रसीले कांड
१८९ / तांत्रिक आया रात को साइकल पर
१९३ / मिट गईं वे पुरानी भूखें, जो कभी सताया करती थीं मुझे
१९७ / आखिर कौन होते थे हम उनके देवता के पास बैठने वाले
२०१ / मौत से डरना छोड़ दिया मैंने

गोरों के स्कूल में काले बच्चे की दीन-हीन स्थिति

जब मैं बच्ची थी तो हम लोग कलकत्ता में रहा करते थे। अंग्रेजों हुकूमत थी; लेकिन ऊंचे वर्ग के भारतीय परिवारों के साथ अंग्रेज लोग समा का व्यवहार किया करते थे। किसी अंग्रेज परिवार का दो-एक गंभ भारतीय परिवारों में घनिष्ठतापूर्वक आना-जाना आम तौर पर होता रह था।

उन दिनों मेरे पिता के एक अंग्रेज अफसर थे। नाम था रॉस। सफा खोपड़ी, लाल चेहरा। जब भी वह हमारे यहां आते तो पिताजी को 'मेरे अ दोस्त नायर' कहकर पुकारते। इसपर हम सब निहाल हो जाते।

एक बार छुट्टियों में हम लोग अपनी दादी के यहां जा रहे थे—माताजा अपने रसोइये को हम श्रीमती रॉस के पास छोड़ गए थे ताकि वह अंग्रेजी खाने बनाना सीख सके। उसके बाद जब-जब भी हम छुट्टियों में क बाहर जाते तो रसोइये को रॉस-परिवार के हवाले कर जाते। इस प्रकार अंग्रेजी पाक-कला में प्रवीण होता चला गया। और आखिर हुआ यह कि उस हमारे खान-पान का तौर-तरीका ही बदलकर हमें एकदम अंग्रेज बना दिया।

अब हम दाल-भात की जगह सूप-कटलेट-स्टू लेने लगे। माताजी के लि अलबत्ता, वह अब भी दाल-भात अलग से बना देता, क्योंकि जानता था कि इ उम्र में उनकी खान-पान की रुचि नहीं बदली जा सकती। पिताजी कांटे-छु से खाने लगे थे। मैं और मेरा बड़ा भाई उनसे पहले ही खा-पी चकते थे-

उंगलियां चाटते चटखारे लेते हुए। अंग्रेजी खाना हाथ से खाते देख हमारा रसोइया हमपर झुंझलाया हुआ खड़ा रहता—मन ही मन हमें जंगली मानता हुआ।

पिताजी सदा अपनी कंपनी के काम में व्यस्त रहते। कंपनी का धंधा था कारें बेचना। तरह-तरह की कीमती कारें—रॉल्स रॉयस, हम्बर और बेंटले, जिनके ग्राहक होते थे बड़े-बड़े रजवाड़े और सामंत।

माताजी को इस सारे ताम-झाम से कोई सरोकार न था। वह तो थीं कवयित्री। पड़ी-पड़ी मलयाली कविताएं लिखा करतीं। पेट के बल लेटकर ही लिखतीं। सो भी एक बड़े मसहरी-तने पलंग पर।

उन दिनों हमारे यहां कोई पूरे समय की नौकरानी नहीं थी। रसोइया ही हमें स्कूल छोड़ने-लेने जाता। फरलांग-भर की दूरी पर ही स्कूल था। उसका स्वभाव कतई स्नेहल नहीं था।

मुझे और मेरे बड़े भाई को घर में वह लाड़-प्यार नहीं मिल पाता था, जैसा कि हमारी हैसियत के परिवारों में आम तौर पर बच्चों को मिलता है। हम दोनों को इस बात का गहरा एहसास था। और इसी सांझे एहसास के कारण हमारे बीच अपने-आप ही कुछ इस किस्म का प्यार उपज आया था, जैसा कि कोढ़ियों-भिखारियों में परस्पर होता है, जो एक-दूसरे को हथठेलों में ठेलते हुए भीख मांगते फिरते हैं।

मेरा भाई : गुलगुला और सांवला···चमकीली गोल-गोल आंखें। अपनी क्लास में सबसे होशियार। फिर भी उसके साथी यूरोपियन बच्चे उसे तरह-तरह से तंग करते। कभी-कभी तो वे उसके नथुनों में तीखी-नुकीली पेंसिल तक घुसेड़ देते। एक दिन मैं क्या देखती हूं कि उसकी कमीज़ खून से लथपथ है। इस कदर बेरहमी का बरताव पाकर वह आतंकित हो सहमा हुआ भी था—इस हद तक कि पलकों में टंगे आंसू भी बाहर निकलने में डर रहे थे। उसीकी क्लास के एक शरीर लड़के विलियम ने उसे पहले छेड़ा था—"क्यों बे कलूटे! तेरा लहू तो लाल है बे!" इस बात पर मेरे भाई का खून उबल पड़ा था। उसने झपटकर विलियम का मुंह नोच लिया था। मगर तभी विलियम के कुछ एंग्लो-इंडियन चमचों ने उसे घर दबोचा था, अंग्रेज़ लड़कों के आगे-पीछे दुम हिलाने वाले एंग्लो-इंडियन छोकरे हमेशा उनकी हिमायत में लड़ने-भिड़ने आ कूदते थे। इतना सब होने के बावजूद हमने अपने माता-पिता को कभी यह नहीं बताया था कि स्कूल की सफेद वर्दी तले काली खाल होने के कारण हमपर क्या-क्या बीतती है।

कभी-कभार हमारे स्कूल में कोई धड़ल्लेदार माननीय अतिथि आ टपकता—गवर्नर की बीबी या फिर सफेद मूंछों वाला कोई सेना का रोबीला जनरल अथवा चकाचक सिल्की लिबास में लिपटी और खुद को बकिंघम महल के शाही खानदान की कोई सगी-सम्बन्धी बतलाती महिला।

हम अपने स्कूल की प्रधानाध्यापिका को मैडम कहा करते थे। पता नहीं मैडम कहां से ऐसी चिड़ियां फांस लाया करती थी। स्कूल तो हमारा छोटा ही था, लेकिन हम ब्रिटिश राज का राष्ट्रगीत दूसरों से अधिक ऊंचे स्वर में गाया करते थे। उस समय मैडम ब्रिटिश राज-परिवार का चित्र पियानो पर टिकाकर सुर छेड़ती और हम गगनभेदी स्वरों में चिंघाड़-चिंघाड़कर गाते—'अंग्रेज बहादुर कभी गुलाम नहीं बनेगा।' हमारा गाना सुनने डाकिया तक अपनी चाल धीमी कर लेता था। गिलट के फ्रेम-मढ़ी तस्वीर में से जॉर्ज षष्ठ आंख मारता, मानो उसे पता था कि अंग्रेज भारत में अपना अंतिम गीत गा रहे हैं।

उन दिनों अभिनेत्री शर्ले टेम्पल के पीछे लोग पागल थे। उसके सुनहरे-घुंघराले बालों और दूधिया मुस्कान पर जान छिड़कते। हमारे स्कूल की अधिकतर लड़कियां उसकी नकल करती। पियानो के पीछे उसकी तस्वीर भी टंगी हुई थी। हमारी क्लास में उससे मिलती-जुलती एक स्कॉच लड़की थी। उसका भी नाम शर्ले ही था। जब कभी कोई माननीय अतिथि स्कूल में आता, शर्ले ही उसे गुलदस्ता भेंट करती। एक बार उससे मेरी लिखी एक कविता भी पढ़वाई गई। जब अतिथि ने पूछा कि यह किसने लिखी है तो मैडम ने कहा कि रूप और गुण की अद्भुत समन्वय शर्ले ने। और तब गवर्नर की बीवी ने शर्ले को चूमते हुए कहा था—"कैसी प्यारी और जहीन बच्ची है।"

जब कभी अतिथि आते तो हम काले बच्चों को इधर-उधर कर दिया जाता। कभी स्कूल के पिछवाड़े बने मंडासों के पास, जहां नौकर-चाकर बैठे रहते। लुई समेत हम छः काले बच्चे थे। लुई एंग्लो-इंडियन होने के कारण यह तय नहीं कर पाता था कि वह किसका पक्ष ले। गोरे बच्चे हमसे तो चिढ़ते ही थे, लुई से और भी अधिक खार खाते, हालांकि लुई बेचारा उनकी दिलजोई करने में कोई कोर-कसर नहीं उठा रखता था। कभी कुत्ता बन भौंकता तो कभी गधा बन रेंकने लगता···

२

बचपन के दुःस्वप्न और एकमात्र 'अच्छा मित्र'

१९२८ में मेरे माता-पिता का विवाह हुआ था। उन दिनों महात्मा गांधी का प्रभाव सर्वाधिक था। गांधीजी द्वारा प्रचारित सादा जीवन को मध्यवर्ग के लोगों ने अपना लिया था। मेरे पिता ने तो अपनी सगाई होते ही तय कर लिया था कि उनकी होने वाली पत्नी सफेद खादी के सिवा और कुछ न

था वह। परन्तु मेरी माता की कामना के कारण ही घर-परिवार में यह भ्रम बना रहा कि सब ठीक-ठाक है। ऐसी ही 'ठीक-ठाक' स्थिति ने दो संतानें जनीं—एक मेरा बड़ा भाई और दूसरी मैं। दोनों का रंग काला और नक्श सामान्य।

हम दोनों से हमारे माता-पिता निराश तो बहुत रहे होंगे, भले ही वे मुंह से कहते कुछ नहीं थे, लेकिन उनके हर हाव-भाव से यह निराशा प्रकट हो जाती थी। उफ! किस ज़ोर-ज़बरदस्ती से पिताजी हमें महीने में एक बार 'कैस्टर-ऑयल' पिलाया करते थे। भोर होने से भी पहले हमें उठा दिया जाता। मुंह भींचकर वह विरेचक हमारे हलक में उड़ेला जाता, और फिर हमारे होंठ बन्द कर देते ताकि हम उसे निगलकर पड़ जाएं। हम पड़ तो जाते, मगर रोते-सुबकते हुए।

हम लोग उन दिनों मोटरकार कंपनी के मरम्मत विभाग के ऊपर वाले हिस्से में रहा करते थे। छत्तीस सीढ़ियां चढ़कर हमें अपने फ्लैट में पहुंचना पड़ता था। अधबीच में दायें को एक खुली जगह थी, जहां नौकरों के कमरे थे, और जहां कोने में लगी हुई एक टोंटी दिन-रात चूती रहती थी और पेशाब की बदबू से नाक सड़ जाती थी।

ऊपर हमारी बैठक में झाड़ी और फूलों की मिली-जुली गंध भरी रहती। खादी के पर्दे लटके रहते, जो हर पखवाड़े धुलने दिए जाते थे। छुट्टी वाले दिन मैं और मेरा भाई खिड़की पर खड़े होकर रबर का कोई खिलौना धागे में बांध नीचे सड़क पर लटका देते—राह चलतों को सताने के लिए। जब वह खिलौना किसी के सिर से जा टकराता तो हम झट से धागा खींच लेते और बेडरूम में जा छिपते कि कहीं वह आ न दबोचे।

हमारा सिर्फ एक ही अच्छा मित्र था, जो हमसे स्नेह से बतियाता था। वह था हमारी मोटरकार कंपनी का स्टोर मैनेजर मेनन। काला मोटा-ताज़ा था। गर्मियों की दोपहरी में जब माताजी सो जातीं तो हम दोनों घर से खिसक जाते मेनन के दफ्तर में। वह अपनी मेज़ पर काम कर रहा होता। कांच के लंबूतरे गिलास में फूंक मार-मारकर झागदार चाय सुड़का करता।

उन दिनों एक मद्रासी परिवार की भी हम लोगों से मित्रता थी। उनके दो बेटे थे। छोटे वाला दुबला-पतला और पीला-सा था। उसने एक गुड़ियाघर बनवा रखा था। एक बार हम उसके यहां गए थे तो उसने हमें दिखाया भी था। हमने अपने दोस्त मेनन से उस गुड़ियाघर का ज़िक्र किया तो उसने उसी महीने हमें एक खासा बड़ा गुड़ियाघर ला दिया। एक गोल मेज़ पर सजा था वह गुड़ियाघर, और हमारे नन्हे मित्र के गुड़ियाघर से कहीं बड़ा और सुन्दर था। रात के समय जब बत्तियां बुझ जातीं तो वह ताजमहल की तरह चमका करता था।

हमारी बैठक की पश्चिमी खिड़कियां खुलतीं तो हमारी फैक्टरी की जाली-दार चद्दरों वाली छत दिखाई पड़ती। उस छत पर बंदर कूदा करते थे। कभी-

कभार कोई बंदर हमारे घर भी आ धमकता और रसोई में से एक-आध नारियल या रोटी का कोई टुकड़ा ले भागता। एक दिन जब हमारा रसोइया उन बंदरों को गंदी गालियां बक रहा था तो मेहतर ने उससे कहा, "ठाकुर, किसी भी बंदर को ऐसा मत कहो। जाने वही भगवान हनुमान हो और तुम्हारी भक्ति की परीक्षा लेने आया हो।"

रसोइया कतई धार्मिक नहीं था। वह तो उलटे सभी हिन्दू देवी-देवताओं की खिल्ली उड़ाया करता था। इससे प्रायः मेहतर की धार्मिक भावनाएं ठेस खा जाया करतीं। एक दिन वह रसोइये से कह ही तो बैठा था, "तुम्हें तो विलायत जा बसना चाहिए।" रसोइया बोला था, "हां, ज़रूर जा बसूंगा। मैं कहूं तो गोरी मेम साब (श्रीमती रॉस) मुझे अपने संग इंगलैण्ड ले जाएंगी।" इसपर मेहतर अपने तामचीनी के मग में चाय पीता-पीता बड़बड़ाया था, "राम, राम!"

३

मेरी हर कविता मुझे रुला गई

कभी-कभी हमें स्कूल छोड़ने जाते समय रसोइया हमें चॉकलेट ले दिया करता था। वड़ा भाग्यशाली होता था वह दिन। चॉकलेट 'नेसल्स' मार्का हुआ करते थे, जिनकी भीतरी तह में ब्रिटिश राज-परिवार का फोटो पड़ा होता था। ऐसे फोटो इकट्ठे करके हमें उन दिनों दुकानदार से एक एलवम मिला करता था।

हमने एक राजनीतिक एलवम भी बना रखा था, जिसमे हम समाचारपत्रों की कतरनें काट-काटकर चिपकाया करते थे। इसमें हिटलर और मुसोलिनी के ढेरों चित्र थे। उन दिनों ये दोनों हमारी नजर मे सबसे बड़े हीरो थे। अखबारों में भी सबसे अधिक समाचार इन्ही दोनों के होते थे—इन्हें महामानव मानते हुए हम भी मन ही मन मनाते कि बड़े होकर इन्ही जैसे बनेंगे।

उन्ही दिनों मेरे भाई ने एक हस्तलिखित पत्रिका निकालनी शुरू कर दी। इस पत्रिका का भी सारा दायित्व मुझीपर आ पड़ा; क्योंकि हममे बाकी सबके हिज्जे कमजोर थे, इसलिए किसीके लिए निबन्ध या कविता लिखना कठिन था।

उन दिनों मैं सिर्फ छ: साल की थी और बडी भावुक थी। मैं निराशा-भरी कविताएं लिखने लगी थी और मेरी कविताएं होती थी ऐसी गुडियाओ पर, जिनके सिर कट चुके थे और जिन्हें सदा-सर्वदा के लिए बिना सिर के ही रहना था। मुझे अपनी हर कविता पर रोना आ जाता। मेरा भाई इन कविताओ के लिए चित्र बनाया करता था या फिर राजनीतिक लेख लिखा करता।

हमें घर में पढ़ाने के लिए भी ट्यूटर लगे हुए थे। एक थी सुंदर एंग्लो-इंडियन मत्रेल। दूसरा था मलयालम का ट्यूटर नंवियार। हमारा रसोइया मवेल को तो ट्रे में रखकर चाय और सैंडविच दिया करता था जब कि नंवियार को कांच के गिलास में रूखी चाय थमा देता। साथ में कोई न कोई चुभता हुआ फिकरा भी कस देता। नंवियार हमारे घर में दव्वू-सा बना रहता। हीन भाव अनुभव करता। घर में मेरे पिताजी के सामने पड़ने से भी टला करता। हमें मलयालम सिर्फ इसलिए पढ़वाई जा रही थी ताकि हम अपनी दादी को खत लिख सकें। दादी के हम बड़े चेहते थे।

अपने स्कूल की एक पिकनिक की वात याद आ रही है। हमें विक्टोरिया गार्डन ले जाया गया था। गन्ने का रस पिलाया गया और हैम-सैंडविच भी खाने को दिए गए थे; लेकिन मैं क्योंकि मांसाहारी नहीं थी इसलिए मैंने हैम-सैंडविच एक झाड़ी में फेंक दिए थे। हमारी एक जवान मास्टरनी थी, जो हमारे हिस्ट्री-मास्टर आरची से रोमांस लड़ा रही थी। रह-रहकर उसका सिसकारता स्वर सुनाई पड़ जाता—'ओ आरची···ओ आरची···।' जव-जब भी आरची अपनी उस प्रेमिका को किसी आड़ में दबोचकर चूमने को होता, तभी उस मास्टरनी का यह स्वर आता और वह उसकी गिरफ्त से छूटकर खिलखिलाती हुई किसी पेड़ के गिर्द चक्कर खाती भागने लगती।

मैं ऐसे में भी सबसे अलग-थलग रहा करती। किसी अंतिम बाड़ के पास जाकर पड़ी रहती। मुझे लगता, जैसे किसीको भी मेरा संग-साथ नहीं चाहिए। उस दिन तो जाने क्यों मैं बहुत ही अकेलापन महसूस कर रही थी। मुझे लग रहा था कि मेरा भाई भी मेरी परवाह नहीं कर रहा। वह अपने साथियों के साथ फुटवॉल खेलने में मस्त था। हमारी एक सहपाठिन थी हेलन। सिर्फ वही नाचना जानती थी। उस दिन वह किसी अंग्रेज़ी फिल्म के बारे में सबको कुछ बता रही थी। सब लड़कियां उसके इर्द-गिर्द जमा हो गई थीं। मुझे हैरानी हो रही थी कि मैं क्यों उस भीड़ में जुट न सकी थी।

मुझे तो इस वात की भी हैरानी हो रही थी कि मैं भारतीय मां-वाप के यहां क्यों पैदा हुई? क्यों न किसी गोरे परिवार में जन्मी? कम से कम वे लोग मेरी लिखी अंग्रेजी कविताओं पर तो गर्व करते ही। तभी मेरी मास्टरनी की तल्ख आवाज सुनाई पड़ी, "ए कमला! तू यहां पड़ी-पड़ी क्या कर रही है? सबके साथ क्यों नहीं खेलती? तू भी कितनी अजीव है री!"

४

रसिक मुखिया की भेंट 'नलपत हाउस'

जब दूसरा विश्वयुद्ध भयानक रूप लेने वाला था तो हमारे पिताजी ने हमारे पूर्वजों के यहां मालावार भेज दिया। मालावार में हमारा घर 'नल हाउस' नाम से प्रसिद्ध था।

घर कोई खास बड़ा तो नहीं था, फिर भी खासा था। भीतरी आगन भी बड़े कमरे में मदिर बना हुआ था। खूब सजे-धजे बेडरूम थे। डाइनिंग हॉ बाहर पोर्टिको से परे एक और बड़ा पोर्टिको, जहा साल में कई-कई 'ओट्टनयुल्लल' नृत्य का आयोजन किया जाता। उस स्थान के पास ही एक ब बड़ा डाइनिंग हॉल और था, जहां आयोजन आदि के दिनो मर्द लोग खाना ख करते। इस सबके अतिरिक्त नौकरों के रहने के लिए अलग-अलग क्वार्टर बने हुए थे। नलपत हाउस दोमंजिला था। दोनों मंजिलों पर तीन-बेडरूम थे।

दक्षिण की ओर एक नाग-समाधि थी। कम से कम दो हजार साल पुरा यहां रेणुका तथा उसके पिता वासुकी की मूर्तियों की पूजा की जाती थी। न समाधि के आगे 'श्राद्धपुरा' था, जहा श्राद्ध के दिनों में परिवार के मृतकों के भोजन आदि बनाने तथा जिमाने का आयोजन किया जाता था। श्राद्धपुर साथ ही एक ऐसा नारियल का बगीचा था, जहा परिवार के किसी भी सदस्य मृत्यु पर एक नारियल का पेड बोया जाता।

उत्तर की ओर घर के ढोर-डगरो के लिए छप्पर बने हुए थे। नलपत हा

हमें घर में पढ़ाने के लिए भी ट्यूटर लगे हुए थे। एक थी सुंदर एंग्लो-इंडियन मवेल। दूसरा था मलयालम का ट्यूटर नंवियार। हमारा रसोइया मवेल को तो ट्रे में रखकर चाय और सैंडविच दिया करता था जब कि नंवियार को कांच के गिलास में रूखी चाय थमा देता। साथ में कोई न कोई चुभता हुआ फिकरा भी कस देता। नंवियार हमारे घर में दब्बू-सा बना रहता। हीन भाव अनुभव करता। घर में मेरे पिताजी के सामने पड़ने से भी टला करता। हमें मलयालम सिर्फ इसलिए पढ़वाई जा रही थी ताकि हम अपनी दादी को खत लिख सकें। दादी के हम बड़े चेहते थे।

अपने स्कूल की एक पिकनिक की बात याद आ रही है। हमें विक्टोरिया गार्डन ले जाया गया था। गन्ने का रस पिलाया गया और हैम-सैंडविच भी खाने को दिए गए थे; लेकिन मैं क्योंकि मांसाहारी नहीं थी इसलिए मैंने हैम-सैंडविच एक झाड़ी में फेंक दिए थे। हमारी एक जवान मास्टरनी थी, जो हमारे हिस्ट्री-मास्टर आरची से रोमांस लड़ा रही थी। रह-रहकर उसका सिसकारता स्वर सुनाई पड़ जाता—'ओ आरची...ओ आरची...।' जब-जब भी आरची अपनी उस प्रेमिका को किसी आड़ में दबोचकर चूमने को होता, तभी उस मास्टरनी का यह स्वर आता और वह उसकी गिरफ्त से छूटकर खिलखिलाती हुई किसी पेड़ के गिर्द चक्कर खाती भागने लगती।

मैं ऐसे में भी सबसे अलग-थलग रहा करती। किसी अंतिम बाड़ के पास जाकर पड़ी रहती। मुझे लगता, जैसे किसीको भी मेरा संग-साथ नहीं चाहिए। उस दिन तो जाने क्यों मैं बहुत ही अकेलापन महसूस कर रही थी। मुझे लग रहा था कि मेरा भाई भी मेरी परवाह नहीं कर रहा। वह अपने साथियों के साथ फुटबॉल खेलने में मस्त था। हमारी एक सहपाठिन थी हैलन। सिर्फ वही नाचना जानती थी। उस दिन वह किसी अंग्रेजी फिल्म के बारे में सबको कुछ बता रही थी। सब लड़कियां उसके इर्द-गिर्द जमा हो गई थीं। मुझे हैरानी हो रही थी कि मैं क्यों उस भीड़ में जुट न सकी थी।

मुझे तो इस बात की भी हैरानी हो रही थी कि मैं भारतीय मां-बाप के यहां क्यों पैदा हुई? क्यों न किसी गोरे परिवार में जन्मी? कम से कम वे लोग मेरी लिखी अंग्रेजी कविताओं पर तो गर्व करते ही। तभी मेरी मास्टरनी की तल्ख आवाज सुनाई पड़ी, "ए कमला! तू यहां पड़ी-पड़ी क्या कर रही है? सबके साथ क्यों नहीं खेलती? तू भी कितनी अजीब है री!"

४

रसिक मुखिया की भेंट 'नलपत हाउस'

जब दूसरा विश्वयुद्ध भयानक रूप लेने वाला था तो हमारे पिताजी ने ह
हमारे पूर्वजों के यहां मालाबार भेज दिया। मालाबार में हमारा घर 'नलप
हाउस' नाम से प्रसिद्ध था।

घर कोई खास बड़ा तो नहीं था, फिर भी खासा था। भीतरी आंगन भी था
बड़े कमरे में मंदिर बना हुआ था। खूब सजे-धजे बेडरूम थे। डाइनिंग हॉल
बाहर पोर्टिको से परे एक और बड़ा पोर्टिको, जहां साल में कई-कई बा
'ओट्टनथुल्लल' नृत्य का आयोजन किया जाता। उस स्थान के पास ही एक बहु
बड़ा डाइनिंग हॉल और था, जहां आयोजन आदि के दिनों मर्द लोग खाना खा
करते। इन सबके अतिरिक्त नौकरों के रहने के लिए अलग-अलग क्वार्टर
बने हुए थे। नलपत हाउस दोमंज़िला था। दोनों मंज़िलों पर तीन-ती
बेडरूम थे।

दक्षिण की ओर एक नाग-समाधि थी। कम से कम दो हज़ार साल पुरानी
यहां रेणुका तथा उसके पिता वासुकी की मूर्तियों की पूजा की जाती थी। नाग
समाधि के आगे 'श्राद्धपुरा' था, जहां श्राद्ध के दिनों में परिवार के मृतकों के लि
भोजन आदि बनाने तथा जिमाने का आयोजन किया जाता था। श्राद्धपुरा के
साथ ही एक छोटा नारियल का बगीचा था, जहां परिवार के किसी भी सदस्य की
मृत्यु पर एक नारियल का पेड़ बोया जाता।

उत्तर की ओर घर के ढोर-डंगरों के लिए छप्पर बने हुए थे। नलपत हाउस

के इस सारे तामझाम के ऊपर हरे चंदोवे की तरह छाए हुए थे उन पेड़ों के पत्ते, जो मेरी कुंजी नामक पूर्वजा ने अपने 'हनीमून' के दिनों में उगाए थे। फल-फूलों से लदे उन बड़े-बड़े पेड़ों की हरी-भरी छाया घर के चारों ओर फैली रहती और इसी छाया में हम, यानी मैं और मेरा भाई, दिन-भर खेला करते।

मेरी पूर्वजा कुंजी जब पंद्रह साल की उम्र में नई-नई व्याही आई थीं तो उनके पति ने यह घर अपनी नवेली को भेंट किया था। हुआ यों था कि कुंजी अपने मामाओं के साथ किसी रिश्तेदार की शादी में कोचीन गई हुई थीं। वहीं उन्हें एक आधुनिक लड़के को देखकर पसंद करना था।

लेकिन उन्हीं दिनों अंग्रेजों की ईस्ट इंडिया कंपनी ने डचों से कोचीन ऐंठा था और भारत में डचों की रही-सही शक्ति को क्षीण करने के लिए कंपनी वालों ने शहर को आग लगा दी थी, क्योंकि कोचीन एक महत्त्वपूर्ण व्यापारिक बंदरगाह था। शहर की उस आग में अनगिनत औरतें और बच्चे जल मरे थे।

कुंजी अपने एक नौकर के साथ किसी तरह वहां से बचकर भाग निकली थीं। भागी तो थीं घर की ओर, परंतु रास्ते में ही किसी रसिया लड़ाकू सरदार ने उनकी राह बदल दी और ले उड़ा था अपने गांव, जहां पहुंचते ही उसने ब्याह लिया कुंजी को। और फिर कुंजी को भेंट देने के लिए उसने 'नलपत हाउस' बनवा दिया था।

नलपत हाउस के पूर्व और उत्तर की ओर फैले हुए थे हमारे लहलहाते हुए धान के खेत तथा पश्चिम दिशा में फैला था ठाठें मारता हुआ फेन उगलता नीला अरब सागर।

जब हम अपने बचपन में वहां गए तब नलपत हाउस में सिर्फ सात प्राणी रह रहे थे—नौकरों के अलावा। मेरी दादी, बुआ, अम्मिनी, मेरे दादा के भाई, जो कि कवि भी थे, मेरी पड़दादी तथा उनकी दो बहनें और एक 'महात्माजी' (यानी महात्मा गांधी का प्रभाव)।

"क्या महात्माजी इस बात की इजाजत देंगे ?" किसी भी बात को लेकर घर की बुढ़ियाएं परस्पर बतियातीं। ऐसा लगता था, जैसे महात्मा गांधी नलपत हाउस के मुखिया हों। हर कमरे में गांधीजी का चित्र लटका हुआ था। नौकर-चाकर तक उस घर में गांधीजी की मौजूदगी महसूस करते थे। उन सबने भी खादी पहननी शुरू कर दी थी।

तपती दोपहरियों में जब कि घर-भर के लोग ऊंघ रहे होते, मेरी दादी तकली पर खादी काता करतीं। दादी का रंग गोरा था और वह सुंदर थीं। उस उम्र में भी उनकी कमर कसी-तनी थी। उनकी गर्दन से संदल की सुगंध आया करती।

महात्मा गांधी हिंदी और अंग्रेजी में बोला करते थे। हमारे घर की बुढ़ियाएं ये दोनों ही भाषाएं नहीं समझती थीं; परंतु गांधीजी की मुस्कान उन्हें सम्मोहित कर लेती थी। वे अपने सारे जेवर हरिजन-निधि में दान कर चुकी थीं। मैं उन

दिनों गांधीजी को लुटेरा समझा करती थी, गोकि किसीसे कहती नहीं थी। आत्म-संयम मुझे उन दिनों निरर्थक लगा करता था—एक बेरहम मजाक की तरह।

मेरी बुआ अम्मिनी आकर्षक थी और ब्याह का हर प्रस्ताव ठुकराती चली गई थीं। वह भी खादी पहना करती और अपने लहरीले बालों पर तेल तक न लगाती थीं। ब्रह्मचारिणी जो थीं; परंतु जब भी वह अपने बेडरूम में अकेली होती तो अपने कमरे की खिड़की की सिल पर बैठकर बाहर महकते पारिजात वृक्ष की गंध में कुमार नामन के प्रेमगीत गुनगुनाया करतीं। उन दिनों ये गीत बहुत लोकप्रिय थे। अपनी बुआ की गुनगुनाहटें सुनकर ही मुझे पहली बार यह अनुभूति हुई थी कि प्रेम एक सुंदर संताप भी है और तपस्या भी…

मेरे दादा के भाई नारायण मेनन उन दिनों के प्रसिद्ध कवि-दार्शनिक थे। वे प्रायः पोर्टिको में आरामकुर्सी डाले पड़े पढ़ते-लिखते रहते और ऊपर एक झालरदार लकड़ी का पंखा हिलता रहता। पंखे की रस्सी खींचता रहता एक नौकर। कुर्सी के पास पड़ा रहता उनका हुक्का। देखने में वे एकदम से कोई राजा-महाराजा ही लगते। हालांकि उनके पास पुस्तकें खरीदने तक के लिए काफी पैसा नहीं था।

नलपत हाउस के पुस्तकालय में अन्य पुस्तकों के अलावा ताड़-पत्रों पर लिखित पाण्डुलिपियों का भी खासा खज़ाना था।

५

गुप्त दराज में सुगंधित भूरी बोतल

मेरी पड़दादी की छोटी बहन कवयित्री थीं। मैंने उनकी मृत्यु के तीस साल बाद उनकी कविताएं पढ़ी थीं। जब मैं छः साल की अवस्था में उन वृद्धों के बीच रहने गई थी, तब वह लकवा-मारी तथा अवहेलित पड़ी हुई थीं। उन्हें देख यूं लगता था, गोया कोई टूटी हुई गुड़िया किसी बच्चे ने बिस्तर पर पटक दी हो; लेकिन उनकी आंखों पर रोग की छाया नहीं पड़ी थी। अजब ललचाई नजरों से वह अपने पास आए को तकती रहतीं।

जब उन्हें खाना-वाना खिलाकर घर के बड़े लोग उन्हें सोने को कहकर चले जाते तो वह अकेली पड़ी-पड़ी नींद की बाट जोहती रहतीं; पर नींद तो उनकी आंखों से सदा के लिए विदा ले चुकी थी। कभी-कभी आधी रात को जब मेरी दादी मुझे पानी-वानी पिलाने ऊंघती हुई रसोईघर को जातीं तो मेरी निगाह पड़ जाती पड़दादी पर। उनकी आंखें पूरी खुली दिखतीं। उनका नाम था अम्मालु। हम नायरों में बच्चे बड़े-बूढ़ों का नाम लेकर नहीं बुलाते, मगर मैं उन्हें अम्मालु ही कहा करती। वह कोई विरोध तो कर नहीं सकती थीं। छुट्टी वाले दिन अक्सर मैं उनके बिस्तर पर बैठ जाती और उन्हें अपनी स्कूल की सहेलियों के बारे में बताती रहती। प्रायः वह कोई टिप्पणी करना चाहतीं, परंतु उनके होंठ फड़फड़ाकर रह जाते, कोई आवाज न आ पाती। वह आंखों ही आंखों से कह डालतीं। जब मैं उनके पास जाकर उनका हाथ थाम लेती, उन आंखों में अनायास नन्ही-नन्ही लवें तिर आतीं।

घर की बड़ी-बूढ़ियों की जवानी में जान चुकी थी कि कभी अम्मालु किस सीमा तक अनुशासनप्रिय थी। उन्होंने जीवन-भर विवाह नहीं कराया था। हालांकि जवानी में काफी सुंदर और हर दृष्टि से योग्य थी। सफाई की तो मानो उन्हें सनक थी। दिन मे तीन-तीन बार नहाती। पढ़ने का भी उन्हे बड़ा ही शौक था। प्रायः पढ़ती ही रहती। दोपहर बाद जब सब लोग पड़े ऊंघ रहे होते तो वह कविताएं लिखा करती।

वह बहुत कम बोलतीं और किसी दिन-त्योहार को ही कहीं बाहर निकलती तो निकलती।

ठंडे पानी से नहा-नहाकर ही अपना शरीर खराब कर डाला था। लकवा मार गया। उन दिनों बरसात के दिन थे और वह अलस्सुबह तालाब से नहा-कर निकली ही थी कि चीखकर ढेर हो गई। यह उनकी आखिरी चीख थी, जो घर वालों ने सुनी थी। घायल पक्षी की सी चीख थी वह। उसके दो साल बाद मैं वहां पहुंची थी। उन दो सालों तक वह निस्पंद पड़ी-पड़ी कमरे मे चहचहाती चिड़ियों के संग-साथ का ही आनंद लेती रही थी। मैं जाते ही उनकी सखी बन गई थी, क्योंकि मैं अपना सब कुछ उनसे कह देती थी। वह अपने लकवाए मुंह से कुछ बोल तो नहीं पाती थी, परंतु जब-जब भी वह मुस्कराती, उनकी आंखों मे एक चमक-सी तैर आती।

एक दिन जब मैं स्कूल से लौटी तो क्या देखती हूं कि वह जमीन पर लोगड़ से ढकी हुई पड़ी है, और आंखें बंद है। मैंने अपनी दादी से पूछा, "ये यहां पड़ी क्या कर रही है?" दादी बोली, "इनके पांव छुओ; यह हमसे विदा ले रही हैं।" फिर मेरे भाई ने मुझे बताया, "अम्मालु मर गई।" और फिर हम लोगों को बाहर निकाल दिया गया। अगली सुबह तक हम ऊपर वाले तल्ले पर ही रहे।

मैंने अपने भाई से पूछा, "क्या वह अब कभी नहीं उठेगी?" मेरा भाई बोला, "मूर्ख हो तुम, वह तो मर गई है। उन्हें जला दिया जाएगा।" यह सुनकर मैं बिलख पड़ी थी।

अब फिर करीब साल-भर से नलपत हाउस मे आई हूं तो मैं अधेड़ औरत हूं—टूटी हुई। घर की पुरानी किताबों-कॉपियों की, जिनमें अम्मालु की कविताएं भी हैं, मैंने राख झाड़ी है और अपने कमरे में ले आई हूं। उन किताबों मे अधिकांश कृष्ण के बारे मे है। अंतिम कविता मे कहती है: 'हे कृष्ण, मेरी पवित्रता को ही अपनी भेंट समझो।' उनकी कविताएं मुझे परेशान कर गई। ऐसा लगा, वह तीस साल बाद एक बार फिर संसार से और मुझसे सम्बोधित है। घर में उनका कोई चित्र भी नहीं था, जिससे मैं अपनी याद ताज़ा कर सकूं। थे तो उनकी पुस्तकों के वे पृष्ठ, जो पतझड़ के पत्तों की तरह पीले हो चुके थे।

६

उसके आकर्षण ने मुझे मोह लिया था

मैंने पुन्नयुर्कुलम के प्राथमिक स्कूल में दाखिला लिया था। नलपत हाउस से वह स्कूल कुछ ही फरलांग की दूरी पर था। मुझे लगा था, जैसे मेरी सांस्कृतिक मृत्यु हो गई है और मैं अब एक नई-सी दुनिया में पुनर्जन्म ले रही हूं; क्योंकि न तो वहां अंग्रेज़ थे और न गोरों की कालों से दुश्मनी।

हमारे ही खेतों में काम करने वाले खेतिहर मजदूरों के बच्चे हमारे सहपाठी थे। लिबास के नाम पर उनके तन पर मात्र अंगोछे होते। उनमें से एक था वेलु। मेरे ही बेंच पर बैठा करता था। उसके पूरे शरीर पर फोड़े-फुंसियां थीं। वह भिखमंगों का बेटा था। उसके मां-बाप हर सुबह हमारे घर मुट्ठी-भर चावल मांगने आया करते थे। भुखमरी के कारण वेलु पीलिया-मारा-सा लगा करता। हमारे घर में जन्म-दिवस के अवसरों पर भिखारियों को जिमाया करते थे। वेलु भी अपने मां-बाप के साथ आया करता था। उसका बाप उसके कान मरोड़कर उसे हमारे सामने भिखारियों की तरह झुकना सिखाया करता था।

हमारे अहाते में सबसे बड़े आम के पेड़ तले लकड़ी के दो बर्तनों में चावलों की मांड भरी रखी रहती। बच्चों के लिए विशेष आकर्षण की चीज़ थे—नमक-लगे कच्चे आम। बांटती थीं हमारी नौकरानियां। मैं चिल्ला-चिल्लाकर उनसे कहा करती, "वेलु को और मांड दो, और आम दो इसे।" इसपर वेलु के होंठों पर अपनीली-सी मुस्कान तैर जाती।

स्कूल में मेरी एक और सहेली थी—मांसल-सी देवकी। एक बार उसने

चोरी से मुझे एक प्रेम-पत्र थमा दिया था। बोली, "यहां नहीं, घर जाकर अकेले में पढ़ना। इसमें मैंने अपना दिल ही तो उड़ेल दिया है।" इन शब्दों ने मुझे बेचैन कर दिया था। घर पहुंची तो वह प्रेम-पत्र मेरी दादी के हाथ पड़ गया। उन्होंने मुझे पढ़ने ही नहीं दिया। सिर्फ सम्बोधन ही पढ़ पाई थी मैं—'मेरी जान से भी प्यारी' कि बस, छिन गया था पत्र। परेशान हो गई थीं दादी उसे पढ़कर। बोली, "खबरदार, जो कभी देवकी से मिली-जुली। महादुष्ट है यह, जो भोली-भाली लड़कियों को ऐसे गंदे खत लिखती है।"

सोमवार को जब स्कूल में मुझे देवकी मिली तो खत का जवाब मांगने लगी। मैंने झूठ ही कह दिया कि अभी मैं खत लिखने लायक मलयालम नहीं जानती, जल्दी ही एक लंबा प्यार-भरा पत्र लिखूंगी। देवकी मुझसे निराश होकर एक और लड़की से प्यार करने लग गई। वह लड़की कुछ बड़ी उम्र की थी। महीनों तक उन दोनों का गुप-चुप पत्र-व्यवहार चलता रहा। आखिर एक दिन हिसाब की मास्टरनी ने उन्हें पकड़ लिया और खूब फटकारा।

आठवीं कक्षा में एक लड़का था। उसी बड़े कमरे में मेरी कक्षा के साथ लगती ही उसकी कक्षा थी। अध्यापकों की दृष्टि में वह बिगड़ैल लड़का था। किसी न किसी बात पर आए दिन उसकी पिटाई करते रहते। बड़ा सुंदर था वह लड़का। हंसता तो दायें गाल पर गड्ढा पड़ा करता। मेरी तो नजरें ही उसके चेहरे पर गड़ी रहतीं। उसके आकर्षण ने मुझे बुरी तरह मोह लिया था। एक बार आधी छुट्टी में उसने ब्लैकबोर्ड पर कोई गंदी बात लिख दी थी। इसपर उसकी तगड़ी ठुकाई हुई थी। उसके गालों पर पंजों के निशान उभर आए थे। गोविंदा कुरुप था उसका नाम। मार खाकर भी मुस्करा रहा था। हौले से अपने साथी से कुछ फुसफुसाया था। साथी ने शरमाकर सिर झुका लिया था। गुस्से में अध्यापक गुर्राया, "ऐ गोविंदा! निकल जा बाहर। दफा हो जा यहां से।" और गोविंदा अपनी धोती सभालकर सीटी बजाता हुआ बाहर चल दिया था। उस समय मैं भी उसके पीछे-पीछे चल देना चाह उठी थी। चाहती थी, जाकर उससे कहूं कि अगर तू दुष्ट है तो मुझे तेरी दुष्टता से ही प्यार है···

एक रात मैंने दादी के पास लेटे-लेटे कहा था कि मैं गोविंदा कुरुप से ब्याह करना चाहती हूं। दादी बोली, "पगली हो गई है क्या?" मगर वह हंस दी थीं मेरी बात को बचकानी समझकर। गर्मियों की छुट्टियों की एक दोपहरी को हम लोग आंगन में नाग-समाधि के पास बैठे चौपड खेल रहे थे कि गोविंदा बाहरी दरवाज़े से भीतर दाखिल हुआ और हमारे पास आ गया। पहले तो वह कभी इस तरह हमारे यहां नहीं आया था। मैं समझ ही न पाई कि वह आ कैसे गया; लेकिन वह बड़ा उत्साहित दिखाई दे रहा था। स्कूल की सिलाई-मास्टरनी के साथ उसने कोई ज़िंदा मजाक किया था, सो वही सुनाने आ गया था हमें।

वह जोश में ज़रा ऊंचा बोल रहा था। मैं डर गई थी। जानती थी कि हमारे बड़े दादा को किसीकी ऐसी हरकतें कतई पसंद नहीं। सो वही हुआ। ...

देर बाद वह बाहर निकलकर गोविंदा पर बरस पड़े। बड़े दादा हालांकि कवि-दार्शनिक थे, फिर भी गंवारों की तरह भड़क पड़ा करते थे। खास तौर पर छोटे लोगों पर। छोटे लोगों को यानी निम्न और निम्न-मध्य वर्ग के लोगों को वह औकात में रहते देखना पसंद करते थे। फूहड़ता से तो उन्हें बेहद चिढ़ थी। लेकिन अपने परिवार के बच्चों से उन्हें स्नेह था। अक्सर त्रिचूर से अपने प्रकाशकों से पेंसिलें ला-लाकर हम लोगों को दिया करते।

औरतों को ज़ेवरों और फूलों से सजी देखना बड़े दादा को पसंद था। उनकी दूसरी पत्नी यानी मेरी बड़ी दादी मुझे बड़ी अच्छी लगती थीं। वह तो रात के समय भी भारी-भरकम गहने पहने सजी-बजी रहतीं—नायर औरतों के परंपरागत सिंगार में। वह खासे अमीर ज़मींदार की बेटी थीं। उनके शरीर पर कुछ फुलबहरी के चकत्ते थे। इसीलिए वह गुसलखाने में छिपकर नहाया करतीं ताकि कोई उनके चकत्ते देख न पाए। कई वर्षों तक किसीको उनकी फुलबहरी का पता भी न चल सका था। घर की बाकी औरतें पारिवारिक तालाब में खुलकर नहाया करती थीं।

जब उनके फुलबहरी के चकत्ते बांहों पर फैलने लगे तो उन्होंने अपने पति को बताया था। बड़े दादा उनकी उत्तेजक मांसलता पर मुग्ध थे। भले ही वह कभी-कभी झल्लाकर पत्नी को कह दिया करते थे कि तुम्हारी तो खोपड़ी में भेजा ही नहीं है। इस झल्लाहट पर भी पत्नी मधुर हंसी हंस देती, क्योंकि जानती थीं कि रात को यही आदमी मेरे मादक तन का गुलाम बन जाता है। हर रात वह दुलहन-सी सज-धजकर पति को रिझाने बेडरूम में जातीं। उनकी सेज पर से नशीली खुशबू उड़ा करती और चमेली के हारों की महकारें आतीं…

७

भद्र नायर स्त्रियां सेक्स का नाम नहीं लेतीं

अपनी सुहागरात तक मैं स्त्री-पुरुष के संबंधों के बारे में कुछ भी नहीं जानती थी। आज की तरह उन दिनों सेक्स की चर्चा करने का चलन भी नहीं था।

[illegible] हाउस में हमारी एक महाराजिन थी। हमारे ही रसोइये से वह इश्क लड़ाया करती। रसोइये ने भी तय कर लिया था कि [illegible] वह ब्याह कर लेगा। नायरों का ब्याह बहुत ही सीधा-सादा होता है। खास तौर पर गरीब नायरों का। बस, वर वधू को एक कपड़ा दे देता है और वह उसे स्वीकार करते ही पत्नी बन जाती है।

पुराने मालाबार में कपड़ा बड़ा महंगा हुआ करता था। औरतें सिर्फ चार गज पहनतीं और दो गज ओढ़ती। [illegible] करती थीं।

हमारा रसोइया [illegible] ही मारा-मारा फिरता रह गया। [illegible] उन्हीं दिनों उसकी [illegible] वह उसे इशारा करके एक [illegible] बरामदे के नीचे से [illegible] कर इनकार फेंक देते। [illegible] गया तो दादी ने [illegible]।

लेकिन हमारे रसोइया महाराज अब भी अपनी प्रेमिका को धीर बंधाने हर शाम उससे मिलने निकल जाते। हमारे अमीर रिश्तेदार को अपना यह रकीब खटकने लगा। उसके आदमियों ने एक दिन हमारे रसोइये को पत्थर मार-मारकर बेतरह घायल कर डाला। वह गिरता-पड़ता लहू लुहान हुआ घर लौटा तो दादी घबरा गई। उन्होंने मुट्ठी-भर चीनी उसके माथे के घाव पर मल दी। खून बहना बंद हो गया। वह अपने रकीब का नाम फुसफुसाकर खल वाली खत्ती में जा पड़ा। अगली सुबह उस खत्ती के फर्श पर सिर्फ सूखे खून के धब्बे-भर रह गए थे और उसका कुछ पता न था।

दादी ने उसके गांव में आदमी भेजकर पता चलाया तो उसके घर वालों ने बताया कि वह तो वहां आया ही नहीं। नौकरों ने खत्ती के फर्श पर सूखा लहू छुरी से रगड़-रगड़कर गोबर-मिले पानी से धो डाला। उधर हमारे अमीर रिश्तेदार भी अपनी महाराजिन प्रेमिका से मुंह मोड़कर एक चांद-सी दुलहन ब्याह लाए थे। हर रात उनके कमरे में से पहले तो झगड़े की आवाज़ें आतीं और फिर पत्नी के चीख-चीखकर रोने के स्वर सुनकर घर वाले आ जुटते और दरवाज़ा खटखटाने लग जाते।

ऊंचे नायर घरानों की औरतें सेक्स का नाम भले ही नहीं लिया करती थीं, लेकिन सेक्स उनके लिए सबसे बड़ा हौआ भी था—हिंसा और खून-खराबे का प्रतीक-सा। उनके दिमाग में तो रावण की कथा भरी हुई थी, जो सीता पर बुरी नज़र डालने के कारण नष्ट हो गया था। और थी कीचक की कहानी, जिसका द्रौपदी-पति भीम ने वध कर डाला था। आम तौर पर नायर कन्या यौवन की दहलीज़ पर कदम धरते ही ब्याह दी जाती थी, और आम तौर पर ही पति की उम्र पत्नी से कहीं अधिक हुआ करती थी। सुहागरात को वह भूखे भेड़िये की तरह बेचारी बछड़ी पर टूट पड़ता। हमारे पुराणों में केवल एक ही ऐसी नायिका नज़र आती है, जिसका यौन-जीवन अपेक्षाकृत शांत था। वह है राधा, जो जमना-किनारे अपने सांवरे प्रेमी की बाट जोहा करती थी; परंतु वह तो किसी और की पत्नी थी। इस नाते अवैध संबंध था उसका। हमारे यहां वैध सेक्स-संबंधों में हिंसा और जंगलीपन के सिवा कुछ भी तो अनुभव नहीं होता।

नलपत हाउस में हमारी नई महाराजिन रख ली गई थी। उसका नाम था कुन्नुकुट्टि। कन्नोली नहर के उस पार के किसी गांव की थी। नाटे कद की, पीली-पीली-सी। अपने कपड़ों की पोटली दबाए आई थी वह हमारे घर। दादी को जंच गई थी। पर वह खाती बहुत थी। और किसी-किसी शाम वह ढोरघर के पिछवाड़े जाकर खाया-पिया सब उगल आती।

एक दिन मैंने उसका पीछा किया और उसे कै करती देख लिया था। कै करके वह अपनी धोती के छोर से माथे का पसीना पोंछ रही थी तो मैंने पूछा, "क्या हुआ तुम्हें ?"

वह बोली, "कुछ नहीं, आज कच्ची इमली ज़रा ज्यादा खा गई थी। जब भी

ज्यादा खा लेती हूं न…पर देखो, तुम अपनी दादी को मत बताना यह कच्ची इमली वाली बात।"

"पर जब तुम जानती हो कि तुम्हें नही पचती तो फिर क्यों खाती हो कच्ची इमली ?"

"मैं तुम लोगों की तरह पढ़ी-लिखी जो नहीं। अंग्रेजी भी नही जानती। कुछ भी तो नहीं। मैं तो बस एक गरीब नासमझ लडकी हूं। मुझ-सी लडकी और कर भी क्या सकती है मूरखताई के सिवा !"

मुझे लगा, यह तो एकदम बुद्धू है।

पर दो-एक महीने बाद की बात है, एक सुबह मैं सोकर उठी तो नीचे के तहखे से कुछ कहा-सुनी की आवाजें सुनाई दीं। दादी बरस रही थी कुन्नुकुट्टि पर, "फटाफट कपड़े बदलो और दफा हो जाओ यहा से…अभी, इसी वक्त।"

कुन्नुकुट्टि उस समय अपनी कोठरी के बाहर खड़ी थी और उसके पैरों तले खून ही खून फैला पड़ा था। मैंने इधर-उधर देखा तो दीवारो पर भी खून के छींटे दिखाई दिए।

"दादीजी, इसे क्या हुआ है ?" मैंने पूछा।

दादी ने मुझे धकेलकर परे हटा दिया था।

और फिर आधे घंटे के अन्दर-अन्दर ही कुन्नुकुट्टि कपड़े बदल, अपनी पोटली समेट विदा होने को तैयार हो ली थी। नहर-पार उसके गांव को जाने वाली नाव मे बैठाने उसके साथ भेजा गया हमारे खेतो का एक नौकर। मुझे इतना तो पता चल गया कि कुन्नुकुट्टि का पत्ता साफ कर दिया गया है, मगर उसका कुसूर क्या है, यह नहीं जान पाई थी।

बाद में हमारे रसोइये ने मुझे बताया कि वह कुलटा थी और उसने खुद ही गर्भपात कर लिया था। यह शब्द मेरे लिए नया था और इससे मेरे पल्ले भी कुछ नही पड़ा था।

"तुम्हारी दादी तो इतनी सीधी है बेचारी कि किसीमें भी उन्हें तो कोई बुराई दिखाई ही नही देती। मैंने तो तभी भाप लिया था इसे, जब यह पुटलिया दबाए पहली बार घुसी थी इस घर मे।" रसोइया कह रहा था, "पर मेरी कौन सुने है !"

८

अकेली देवी

उत्तर दिशा वाले धान के खेतों के पार लज़ार नाम का एक तेली रहता था। उसकी तीन बीवियां थीं और एक गाय थी। ये चारों की चारों उसके कोल्हू पर पिली रहतीं। इन्हींकी मेहनत से गरी और तिल का तेल निकालता। जब कि तेली खुद दिन-भर पसरा रहता और पत्नियों को गंदी-गंदी गालियां बकता रहता। वे बेचारी सह जातीं, क्योंकि पति उन्हें खाने-पीने की कमी न आने देता। यों भी पत्नियां बेचारी स्वभाव से भली थीं और उन्हें कष्ट झेलने की आदत थी।

तेली ने तीनों पत्नियों को सोने के हार और बुंदे बनवा दिए थे। खुद वह तगड़ा पियक्कड़ था, लेकिन उसके कोल्हू का तेल शुद्ध होता।

तिल का तेल झागदार और खुशबूदार होता है। इलाके की मालदार महिलाएं मालिश के लिए ये तेल खरीदती थीं। इसमें हल्दी और संदल मिलाकर अपने शरीर पर मलतीं, जिससे जिल्द सुनहरी होती और झुर्रियां गायब हो जातीं। लज़ार तेली का बेटा मैट्रिक पास था। वही घर-घर तेल लेकर जाता; लेकिन उसे अपने पढ़े-लिखे होने का एहसास बना रहता, इसलिए वह तेल बेचने की ज़्यादा कोशिश नहीं करता। महिलाएं उसकी दिक्कत समझती थीं, इसलिए बिना सौदेबाज़ी किए वह ले लेतीं। वैसे तो औरतें जन्मजात सौदेबाज़ होती हैं। हर दुकानदार और फेरीवाले से सौदेबाज़ी करने में उन्हें आनन्द आता था।

लज़ार के घर के पीछे कुछ नीच जात वालों की झुग्गी-झोंपड़ियां थीं। उनका

धंधा था टोकरियां बुनना और गंडे-तावीज बेचना। उनकी औरतें गले में लाल मनकों की माला पहने रहती थीं और छातियां नंगी रखती। आस पास के गरीब-गुरबा आकर उनसे वशीकरण मंत्र और शत्रुनाशक तावीज खरीद ले जाते। इसी कारण उन नीच जात वालों को बस्ती से दूर रखा गया था। लेकिन मकीरम (जनवरी-फरवरी के बीच) में अचानक ही उन नीच जात वालों का महत्त्व बढ़ जाता, क्योंकि यह महीना काली की पूजा का होता है और काली उन लोगों को प्रिय देवी है।

इसी महीने ये लोग अपनी वेश-भूषा काली माई जैसी बनाकर हम लोगों के घरों मे नाचते। इनके साथ ढोलची और बांसुरीवादक भी आते।

जब काली-नृत्य होता तो हम लोग बहुत प्रभावित होते। बहुत भीतर गहरे में कहीं हमे यह जान पड़ता कि काली संसार की रचना से भी पहले की देवी है और दूसरों के लिए संहार कर चुकने के कारण सबसे अधिक अकेली है।

बरसात के दिनों में 'ओट्टन-थुल्लल' नर्तक अपने ढोल-मंजीरे लेकर आया करता। अपनी परम्परागत रूप-सज्जा बनाकर। उसके झोले में थोड़ा-सा गिलट का मुकुट तथा नकली जेवरात रहते। नलपत हाउस में वैसे कार्यक्रम साल में कई-कई बार होते रहते। मैं हमेशा नर्तक के करीब ही बैठा करती।

दोपहर बाद घर के बड़े लोग खा-पीकर जब थोड़ा ऊंघ लेते और फिर चाय-वाय भी पी चुकते, तब नृत्य शुरू होता। ढोल की आवाज सुनकर बच्चे-कच्चे भी आंगन में आ जुटते। मित्र और सम्बन्धी लोग चटाइयों पर बैठते और पान चबाते रहते। नृत्य-कथाएं आम तौर पर महाभारत से ही ली होतीं। एक कथा मुझे सबसे अधिक पसंद थी। वह थी 'कल्याण सौगन्धिकम'। इसमें भीम की कथा थी, जब वह अपनी पत्नी द्रौपदी की मांग पर दैत्य की वाटिका से फूल लेने जाता है, क्योंकि वह फूल द्रौपदी ने अपने जूडे मे लगाना होता है। दिवा-स्वप्न देखती हुई मैं भी द्रौपदी बन जाती, जो अपने पति को वह फूल लाने के लिए भेजती, जो मुझे अपने लहरीले बालो मे लगाना होता।

९

वह हर रात किसी प्रेत के साथ कैसे बिता सकते थे !

मेरे बड़े दादा की मां का नाम माधवी अम्मा था। वह मालाबार के प्रसिद्ध तांत्रिक की बेटी थीं। और वह तांत्रिक थे कट्टू माड़म के नम्बूदरीपादों में सबसे बड़े। माधवी अम्मा बहुत ही चुप्पे स्वभाव की थीं। मालाबार में बरसात के दिनों में जैसी दलदलें बन जाती हैं, बस वैसी ही थीं वह। कड़ी पपड़ियों तले छिपी कीचड़ और उसकी पशुवत् भूख कि जो उसमें गिरे हर प्राणी को निगल ले। मैं उन्हें वली अम्मा अर्थात् बड़ी मां कहा करती थी। प्रश्न पूछने की तो मेरी शुरू से आदत है, लेकिन वह कभी उत्तर न देतीं।

उनका चेहरा कठोर था—एकदम बंद लोहे की तिजोरी जैसा, जिसमें उनके दुखी जीवन की सारी कड़वाहट बंद थी। उनके बारे में कुछ-कुछ मुझे और लोगों से मालूम हुआ था। पुराने विचारों के किसी परिवार का कोई बच्चा बड़े-बूढ़ों के बारे में ऐसे-वैसे सवाल नहीं पूछ सकता। फिर भी जो कुछ मैं जान सकी, वह यह कि वली अम्मा का विवाह एक बड़े ही सुन्दर विद्वान के साथ हुआ था। उससे इनके एक बेटा भी हुआ, मगर फिर तुरंत बाद वली अम्मा के मामा की नजर से वह युवक उतर गया तो उन्होंने उसे घर से बाहर निकाल दिया और फिर कभी न लौटने की हिदायत कर दी।

और वह युवक ब्राह्मण फिर कभी न लौटा। कुछ ही सप्ताह बाद वली अम्मा का दूसरा विवाह कर दिया गया। लड़का उनके पिता का भानजा था। मगर वह पहले पति जैसा नेक और भला न था। वली अम्मा ने कई दिन तक नीबू

के झाड़ के पास खड़ी होकर अपने पहले पति के लौटने की प्रतीक्षा की, लेकिन वह न लौटा।

वली अम्मा अपने बेटे से भी बात नहीं करती थीं, उससे आँख चुराती थीं और दूसरे आदमियों से भी बच-बचकर रहती थीं। अपने बेटे के जन्म-दिवस के सिवाय वह उसे अपने हाथों से कभी खाना तक न खिलाती थीं। बेटे के साथ उन्हें बहुत बेचैनी होती थी। शायद उन्हें यह महसूस होता कि मैंने दूसरी शादी करके अपने बेटे के साथ छल किया। बेटे की नज़रें उन्हें अपने सीने में धंसती हुई महसूस होती थीं, एक अजीब किस्म का अपराध-भाव उनमें उपजता और एक कड़वाहट-सी पैदा हो जाती; लेकिन उनके बेटे के मन में ऐसी कोई भावना नहीं थी।

बेटा बड़ा हुआ, अंग्रेज़ी और संस्कृत पढ़ा, वराह मिहिर और प्लेटो का उसने अध्ययन किया और विद्वान बना। महानतम चिंतकों को वह अपना मित्र समझता था। उसने अपना निजी पुस्तकालय बनाया, बड़ी-बड़ी किताबें जुटाईं। वल्लाथोल जैसे कवि उनके मित्र बने। वल्लाथोल उन दिनों मलयाली साहित्य के उभरते हुए कवि थे। घंटों तक वे दोनों अपने-अपने दर्शन पर बहस करते रहते। के० एम० पणिक्कर, जेम्स कज़िन्स और मिस माउंटफुट जैसे लोग भी उनके मित्र बने। इस प्रकार नालापत हाउस में साहित्यिक गोष्ठियों की गतिविधियाँ शुरू हुईं। इनमें सबसे अधिक ऊँचे ठहाके वल्लाथोल के ही सुनाई पड़ते। वल्लाथोल तब बहरे हो चुके थे और उन्हें अपने स्वर के ऊँचे-नीचे होने का आभास नहीं हो पाता था। जब वह बोलते तो उनके वाक्य तेज़-सी नदी की तरह बहते हुए लगते और स्वर हवा में काँपता हुआ सा महसूस होता।

मेरे बड़े दादा की पहली पत्नी का देहांत प्रसूति के दौरान हो गया था। पत्नी के मरते ही उनकी सारी खुशियाँ हवा हो गई थीं। पूरे पन्द्रह साल तक उन्हें यह ग़म सताता रहा। फिर जब उन्होंने दूसरी शादी की तो वह यह अच्छी तरह जानते थे कि अब वह बात नहीं आ सकती। उनके मलयाली पाठक उनकी रचनाएँ पढ़ते हुए रोया करते थे। उन्हें उनके दूसरे विवाह से काफ़ी धक्का लगा था। मुझे याद है कि शारदा नाम की एक युवा पाठिका दो माह तक हमारी मेहमान रही थी। वह मेरी माँ से कहा करती कि मैं नालापत नारायण मेनन को दूसरे विवाह के लिए कभी क्षमा नहीं कर सकती।

वली अम्मा का देहांत कैंसर से हुआ तो उनका कवि बेटा भी उनसे कुछ माह पूर्व ही बीमार पड़ा हुआ था। पूरे जिस्म पर 'कारबंकल' फोड़े निकले हुए थे। वह कपड़े तक न पहन सकते थे। केवल एक सफ़ेद चादर ओढ़े पड़े रहते और उस चादर पर भी खून और मरहम के लाल-पीले निशान उभरे रहते। एक बार जब उनकी पत्नी उनकी मरहमपट्टी कर रही थी तो मैंने उनके फोड़ों को देखा और डर गई। वह दर्द से कराह रहे थे।

वली अम्मा एक ऐसी महिला थीं, जिन्होंने अपना दुःख कभी व्यक्त नहीं किया था। वह अपने दुःख को नितांत निजी मानती थीं। कैंसर की बीमारी के कारण

उनका वज़न एकदम घट गया था और चेहरा एकदम पीला पड़ गया था। डॉक्टर ने उन्हें मारफिया के टीके लगाने शुरू कर दिए थे ताकि वे चैन से पड़ी रहें; लेकिन उनकी खोपड़ी में से कीचड़ की सी गंध जैसा मवाद वहना शुरू हो गया था। सफेद लेसदार, जो वह-वहकर उनके वालों में रेंगता रहता। एक पखवाड़े के वाद जब उनकी मृत्यु हुई और उन्हें वाहर निकाला गया तो उनका कवि बेटा बीमारी के वावजूद अपने विस्तर पर उठ बैठा और बच्चों की तरह फूट-फूटकर रोने लगा। इस प्रकार उन्होंने अपनी मां के प्रति पहली दफा प्यार व्यक्त किया था। और फिर जब मां की चिता को आग लगाई गई तो वेटा अपने विस्तर पर ही ढेर हो गया था।

तीस साल तक वली अम्मा घर से वाहर नहीं निकली थीं। फर्लांग-भर के फ़ासले पर जो तालाव था, सिर्फ वहां नहाने-भर को जाया करती थीं। जब उनकी लाश घर से निकाली जा रही थी तो मैं भी रो पड़ी थी। उनके लम्बे-लम्बे लहरीले वाल घुटनों को छूते थे—वहुत ही मुलायम, सिल्क-से भूरे-भूरे। जिस समय चिता की लपटों ने उन्हें ढक लिया तो मुझे उनके वही वाल याद आ रहे थे।

अगले ही दिन मेरे पिता मुझे कलकत्ता वापस ले गए। शायद यह सोचकर कि मैंने बीमारियां और मौतें वहुत देख लीं, अब मुझे हवा वदलने की जरूरत है।

१०

वह तो प्यार में नीम पागल थी; उसे मेरी सुध कहां !

मैंने और मेरे भाई ने अपने मित्रों की सहायता से एक थियेटर शुरू किया था। नाम रखा था 'वानरी चिल्ड्रन ड्रामेटिक सोसाइटी'। नलपत हाउस में ही मंच बनाया था।

बड़े-बड़े लोगों को पहली तीन पंक्तियों में बैठाते थे। उनके पीछे किराये पर लाई हुई स्कूली बेंचों पर हमारे रिश्तेदार बैठते थे। आंगन में छोटे-मोटे लोग, जो भावुक होकर बीच-बीच में तालियां बजाते थे। गावों में उन दिनों बिजली तो थी नहीं, लालटेनों से फुटलाइट का काम लिया जाता था। रंगीन पतले कागजों से लपेटकर उन्हींसे रंग-बिरंगे प्रभाव पैदा करते।

पहला नाटक जो हमने खेला, वह विक्टर ह्यूगो के 'लैस मिजरेबल्स' के एक अध्याय का मलयाली रूपांतर था। मैं इसमें एपोनीन बनी थी। एक घमंडी बेटी का अभिनय किया था मैंने। जरा भी शरमाई नहीं थी।

हमारे नाटक देखकर बड़े-बड़े पत्थर-दिलों के भी आंसू आ जाते थे।

मैंने सबसे अच्छा अभिनय मुगल मलिका नूरजहां का किया था। मेरा सबसे अच्छा दृश्य वह था, जिसमें नूरजहां युद्ध के बाद मैदाने-जंग में जाती है। मेरा अभिनय देखकर दर्शक एकदम स्तब्ध रह गए थे। मुझे लगा कि वे भूल गए कि मलिका की भूमिका एक बच्ची कर रही है। मेरे भाई ने बाद में अपने-आपको इस बात के लिए बधाई दी थी कि उसने ही मुझे यह भूमिका अदा करने के लिए जोर डाला था, जब कि हमारी सोसाइटी के बाकी सदस्य यह चाहते थे कि इस

उनका वज़न एकदम घट गया था और चेहरा एकदम पीला पड़ गया था। डॉक्टर ने उन्हें मारफिया के टीके लगाने शुरू कर दिए थे ताकि वे चैन से पड़ी रहें; लेकिन उनकी खोपड़ी में से कीचड़ की सी गंध जैसा मवाद वहना शुरू हो गया था। सफेद लेसदार, जो वह-वहकर उनके वालों में रेंगता रहता। एक पखवाड़े के वाद जव उनकी मृत्यु हुई और उन्हें वाहर निकाला गया तो उनका कवि वेटा वीमारी के वावजूद अपने विस्तर पर उठ वैठा और वच्चों की तरह फूट-फूटकर रोने लगा। इस प्रकार उन्होंने अपनी मां के प्रति पहली दफा प्यार व्यक्त किया था। और फिर जव मां की चिता को आग लगाई गई तो वेटा अपने विस्तर पर ही ढेर हो गया था।

तीस साल तक वली अम्मा घर से वाहर नहीं निकली थीं। फर्लांग-भर के फ़ासले पर जो तालाव था, सिर्फ वहां नहाने-भर को जाया करती थीं। जव उनकी लाश घर से निकाली जा रही थी तो मैं भी रो पड़ी थी। उनके लम्वे-लम्वे लहरीले वाल घुटनों को छूते थे—वहुत ही मुलायम, सिल्क-से भूरे-भूरे। जिस समय चिता की लपटों ने उन्हें ढक लिया तो मुझे उनके वही वाल याद आ रहे थे।

अगले ही दिन मेरे पिता मुझे कलकत्ता वापस ले गए। शायद यह सोचकर कि मैंने वीमारियां और मौतें वहुत देख लीं, अव मुझे हवा वदलने की ज़रूरत है।

१०

वह तो प्यार में नीम पागल थी; उसे मेरी सुध कहां !

मैंने और मेरे भाई ने अपने मित्रों की सहायता से एक थियेटर शुरू किया था। नाम रखा था 'बानरी चिल्ड्रन ड्रामेटिक सोसाइटी'। नलपत हाउस में ही मंच बनाया था।

बड़े-बड़े लोगों को पहली तीन पंक्तियों में बैठाते थे। उनके पीछे किराये पर लाई हुई स्कूली बेंचों पर हमारे रिश्तेदार बैठते थे। आंगन में छोटे-मोटे लोग, जो भावुक होकर बीच-बीच में तालियां बजाते थे। गावों में उन दिनों बिजली तो थी नहीं, लालटेनों से फुटलाइट का काम लिया जाता था। रंगीन पतले कागजों से लपेटकर उन्हींसे रंग-बिरंगे प्रभाव पैदा करते।

पहला नाटक जो हमने खेला, वह विक्टर ह्यूगो के 'लैस मिज़रेबल्स' के एक अध्याय का मलयाली रूपांतर था। मैं इसमें एपोनीन बनी थी। एक घमंडी बेटी का अभिनय किया था मैंने। जरा भी शरमाई नहीं थी।

हमारे नाटक देखकर बड़े-बड़े पत्थर-दिलों के भी आंसू आ जाते थे।

मैंने सबसे अच्छा अभिनय मुगल मल्लिका नूरजहां का किया था। मेरा सबसे अच्छा दृश्य वह था, जिसमें नूरजहां युद्ध के बाद मैदाने-जंग में जाती है। मेरा अभिनय देखकर दर्शक एकदम स्तब्ध रह गए थे। मुझे लगा कि वे भूल गए कि मल्लिका की भूमिका एक बच्ची कर रही है। मेरे भाई ने बाद में अपने-आपको इस बात के लिए बधाई दी थी कि उसने ही मुझे यह भूमिका अदा करने के लिए जोर डाला था, जब कि हमारी सोसाइटी के बाकी सदस्य यह चाहते थे कि इस

भूमिका के लिए कोई सुन्दर लड़की बेहतर रहती। उस सुंदर लड़की को मुमताज़ महल की भूमिका दी गई थी। मुमताज़ यानी शहज़ादा खुर्रम की बीवी। और उस लड़की ने वाकई सुंदरता का प्रदर्शन किया था।

एक साल के अंदर-अंदर ही हमने द्विजेन्द्रलाल राय के सारे ही नाटकों के मलयाली अनुवाद अपने रंगमंच पर प्रस्तुत कर दिए थे। इनके अलावा कालिदास का 'शकुंतला' और भास का 'स्वप्न वासवदत्ता'।

दादी को मेरे काले रंग की बड़ी चिंता रहती। वह अक्सर मंगलवार और शुक्रवार को मुझे तेल मालिश करते समय कच्ची हल्दी मेरे शरीर पर मला करतीं। उन दिनों घुंघराले बालों का फैशन था और मेरे बाल चूंकि घुंघराले थे, इसलिए दादी गर्व से हमारे रिश्तेदारों को मेरे बाल दिखाया करतीं। खास तौर पर ऐसे रिश्तेदारों को, जो मेरे सांवले रंग को लेकर टीका-टिप्पणी किया करते। मुझे याद है, एक बार दोपहर बाद मैं अपने रसोइये के पास जाकर उससे पूछ बैठी थी कि क्या मैं वाकई बदसूरत हूं! इसपर उसने ठहाका मारकर कहा था, "नहीं-नहीं, बिल्कुल नहीं। मेरा खयाल है कि अगले दस वर्षों में तुम बहुत सुंदर निकल आओगी।"

जब मैं नौ साल की थी तो एक बार मेरे पिताजी छुट्टी लेकर घर आए। उन्हें लगा कि मैं बहुत ही गंवारू होती जा रही हूं। उन्होंने तत्काल मुझे एक बोर्डिंग स्कूल में दाखिल करा दिया। वह स्कूल रोमन कैथोलिक नन्स (ईसाई भक्तिनें) चलाती थीं। पिताजी मुझे टैक्सी में वहां ले गए थे। दादी ने मेरे सारे कपड़े एक काले बक्से में डालकर हमारे साथ दे दिए थे। तब मेरे पास चार खद्दर के फ्रॉक और चार ही पुराने फैशन के निकर थे। इसके अलावा दो तौलिये थे। पेटीकोट और शमीज़ नाम की चीज़ों का उन दिनों मेरी दादी को पता ही नहीं था। मैं खुद भी शहरी फैशन नहीं जानती थी।

पिताजी ने स्कूल की मदर सुपीरियर से मेरा परिचय कराया। मदर की कमर पर सफेद क्रॉस झूल रहा था। एक छोटी कैंची भी लटकी हुई थी। शायद वह कैंची सिर-मुंड़ी भक्तिनों के सिर पर उग आए छोटे-छोटे बाल काटने के काम आती थी।

फिर पिताजी ने मेरा परिचय कराया बोर्डिंग हाउस की इंचार्ज सिस्टर से। उसका नाम था फिलोमीन। उसने मुझे अपनी गुलगुली बांहों में भरकर कहा था, "चिंता नहीं करो बेटी, मैं जो हूं यहां तुम्हारी चिंता करने को।" उसकी उम्र पचास के आसपास थी। पिताजी मुझे उसे सौंपकर अपनी कार में चल दिए तो मैं सिस्टर फिलोमीन के पीछे-पीछे चल दी बोर्डिंग हाउस की ओर, जो कि स्कूल से एक फर्लांग की दूरी पर था।

बोर्डिंग के दरवाजे पर खड़ी बाहर देख रही थी फ्रॉक वाली एक बारह साल की लड़की। उसे देखकर सिस्टर फिलोमीन बोलीं, "आओ राजी, इससे मिलो। यह नई आई है, कमला।" राजी ऐसे लग रही थी, जैसे बहुत रोकर चुकी हो।

उसकी आंखें सूजी हुई थीं और उनमें से अविश्वास झांक रहा था; लेकिन वह हमारे साथ बोर्डिंग के अंदर गई। बोर्डिंग की इमारत दोमंजिला थी—गोलाकार। सुंदर बगीचा भी था।

बगीचे का द्वार हर समय बंद रहता, क्योंकि वह सड़क पर खुलता था और सामने एक होटल था, जहां आइसक्रीम भी बिकती थी। और लड़कियां अक्सर दीवार फांदकर वहां से आइसक्रीम खरीद लाती थीं। सिस्टर फिलोमीन की सहायक एक और भक्तिन थी। बड़ी ही बुरी थी। बच्चों की ज़रा-ज़रा-सी गलती पर उनकी शिकायत करना तो जैसे उसके जीवन का उद्देश्य था। सब बच्चे उससे नफरत करते थे।

मुझे पहली बार देखकर हॉल में बैठी हुई कुछ एंग्लो-इंडियन लड़कियों ने गाना शुरू कर दिया था, "जब वह आई तो नीचे से थी नंगी।" मैं हैरान हुई कि मुझे देखकर वे हंसी क्यों! तभी एक बड़ी लड़की उठकर मेरे पास आई। बोली, "मेरा नाम शारदा मेनन है। तुम मेरे ही कमरे में रहोगी।"

वह मुझे कमरे में ले गई। निचले तल्ले पर ही कमरा था। उस कमरे के साथ लगता ही एक और कमरा था, जहां कपड़े-वपड़े बदला करते थे। कमरे की खिड़की के बाहर चमेली की डाल झूम रही थी। मुझे सबसे चौड़ी खाट मिली थी, जो खिड़की के पास ही पड़ती थी।

हमारे कमरे में चार खाटें थीं। राजी की खाट मेरे बिल्कुल साथ ही थी। मेरे, राजी और शारदा के अलावा चौथी लड़की थी मीनाक्षी। उम्र चौदह साल। शारदा हम सबमें सुंदर थी और सबसे बड़ी भी। हम सब उसे अपनी अभिभावक मानने लगी थीं। वह घर से जो भी मिठाई लाती, हम सबमें बांटती थी। राजी मना करती तो शारदा कहती, "घर की याद आ रही है क्या? घबराओ नहीं, दिसम्बर की छुट्टियों में तो घर जाओगी ही।"

शारदा का लालन-पालन सिंगापुर में हुआ था। वह करीने से सिले हुए कपड़े पहनती। उसके फ्रॉक घुटनों से ऊपर ही रहते। उसकी टांगें बड़ी सुंदर थीं। वह किसीसे ज्यादा बोलती-चालती नहीं थी। बस या तो अपनी मास्टरनियों से बात करती या हम लोगों से। बोर्डिंग हाउस की एक गोआनी लड़की उससे प्यार करने लगी थी। प्यारे-प्यारे खत लिखती और प्यार-भरी नजरें फेंकती। शारदा एक दिन तंग आकर उसपर बरस पड़ी थी।

वह गोआनी लड़की एक दिन हमारे कमरे में आई। उस समय शारदा गुसलखाने में थी। वह लड़की शारदा का तकिया चूमकर चली गई। मैं अपने बिस्तर पर पड़ी-पड़ी उसकी यह हरकत देख रही थी। वह तो शारदा के प्यार में नीम पागल हो रही थी; उसे मेरी सुध कहां थी!

११

घाट-घाट की लड़कियां एक बोर्डिंग स्कूल में

मेरे कमरे वाली राजी एक अमीर डॉक्टर की बेटी थी। खूब मोटी-ताज़ी थी। शायद बिगड़ गई हो, इसीलिए अनुशासन सिखाने के लिए उसके मां-बाप ने उसे बोर्डिंग स्कूल में दाखिल करा दिया था। मगर वह तो उलटे स्कूल की भक्तिनों को ही पाठ पढ़ाने में लगी हुई थी।

बोर्डिंग की सहायक मास्टरनी राजी को अक्सर फटकारती रहती। राजी यूं तो अक्सर उदास-उदास और चुपचाप रहती, लेकिन जब-जब भी उस पिछड़ी हुई भक्तिन की बात आती तो सबसे अधिक बक-झक भी राजी ही करती। एक दिन तो वह यहां तक कह बैठी, "भगवान करे, यह कम्बख्त मर जाए।"

मेरे कमरेवालियों ने मेरा नाम उल्बा डाल दिया था। वे अक्सर मिठाइयां और आइसक्रीम मेरे पेट में ठूंसती रहतीं। वे चाहतीं कि मैं अच्छे-अच्छे कपड़े पहनूं। मुझे मजबूर करतीं कि मैं कलकत्ता में पिताजी को लिखूं कि वे मेरी दसवीं वर्षगांठ पर सिल्क का फ्रॉक भेजें।

शायद वे नहीं जानती थीं कि ऐसी बातों से मेरे अहम् को कितनी ठेस लगती! पिताजी को ऐसा खत लिखकर मैं उनकी निगाहों में कितनी गिर जाती! वे लड़कियां जिन घरानों से थीं, उनके तौर-तरीके हमारे घर से अलग थे। उन लोगों के लिए यह मामूली बात थी कि बच्चे अच्छे-अच्छे कपड़े पहनें और खूब सज-धजकर रहें। वे शायद मुझे भी अपनी बहनों की तरह सुंदर और बनी-संवरी देखना चाहती थीं।

मेरी दादी किसी न किसीको दो-एक महीने बाद मेरे पास भेजकर किसी शनिवार-इतवार को मुझे तलपत हाउस बुलवा लिया करती थीं। इन दिनों एक बार जब मैं घर से चली तो मेरे साथ मेरे बड़े दादा का सबसे छोटा साला मुझे स्कूल पहुंचाने आया था। मेरी दादी ने उससे कहा था कि शहर के बाज़ार से वह मेरी फ्रॉक के लिए कोई कपड़ा खरीद दे।

दादी मुझे सिल्क के कपड़े तो खरीदवाकर दे नहीं सकती थीं। ज़ाहिर है, जो रकम उन्होंने उसे दी होगी, वह बहुत कम रही होगी। उसने दुकानदार से कोई सस्ता-सा कपड़ा दिखाने को कहा, लेकिन दुकानदार ने खूबसूरत छपाई वाली पापलीनों के ढेर लगा दिए हमारे सामने।

"कोई सस्ता-सा कपड़ा नहीं है?" बड़े दादा के साले का स्वर काफी तीखा और करख्त था। राह चलते लोग भी ठिठक गए थे। मुझे अपना सारा गर्व चूर-चूर हो गया लगा। मैं तो उस समय यहां तक चाह उठी थी कि धरती फट जाए और मैं सीता की तरह उसमें समा जाऊं। आखिरकार एक सस्ते-से छपे हुए मद्दर का टुकड़ा लेकर हम लोग वहां से चल दिए।

मेरे कमरेवालियों ने जब वह देखा तो नाक-भौं सिकोड़ने लगीं, "ओह! बेचारी उल्वा।" उन्हें मुझपर तरस आ रहा था, लेकिन मैंने उनकी तसल्ली के लिए कह दिया था कि मेरे जन्म-दिन से पहले-पहले ही पिताजी कलकत्ता से सिल्क का फ्रॉक भेज देंगे। मेरे जन्म-दिन से पहली शाम को वे लोग बाजार गईं, मुझे भी साथ ले गईं, यह कहकर कि शारदा ने अपनी चचेरी बहन सत्यवती के लिए कोई उपहार खरीदना है।

बाज़ार में मुझे एक से एक प्यारे कपड़े दिखाई दिए। सिल्क और टाफ्टा के रंग-बिरंगे कपड़े।

"अगर तुम सत्यवती होतीं तो अपने लिए क्या पसंद करतीं?" शारदा ने मुझसे पूछा।

मैं काफी देर तक चुपचाप सामने बिखरे सिल्क के कपड़ों पर खोजती-चुनती दृष्टि फिराती रही। फिर बोली, "यह।" एक पर मैंने हाथ धर दिया। शारदा ने वही खरीद लिया और फिर हम लोग थकी-मांदी लौट पड़ीं।

अगली सुबह जब मैं अपनी दसवीं वर्षगांठ के दिन सोकर उठी तो मेरे कमरे की सहेलियों ने 'हैपी बर्थडे' गाया और मुझे वही उपहार भेंट किया, जो मैंने सत्यवती के लिए पसंद किया था। इसपर मेरी आंखें छलक आई थीं और मैंने अपना मुंह शारदा के बालों में छिपा लिया था। मीनाक्षी बोली थी, "तुम इस बैंगनी फ्रॉक में खूब खिलोगी।"

मदर सुपीरियर ने मुझे बुलवा भेजा तो मैं डर गई कि कहीं किसीने मेरी शिकायत तो नहीं कर दी कि मैंने दीवार फांदकर आइसक्रीम मंगवाई है; लेकिन जब मैं उनके कमरे में गई तो उन्होंने काढ़े हुए रूमालों का एक पैकेट मुझे भेंट कर मेरे जन्म-दिन पर बधाई दी।

बोर्डिंग की सहायक अध्यापिका राजी से बहुत खार खाती थी। जब राजी बीमार पड़ी तो उसने बेचारी पर यह इल्ज़ाम लगाकर भाषण झाड़ना शुरू किया कि इम्तिहान से बचने का बहाना है तुम्हारी बीमारी। राजी को यह सब बड़ा अखरा। उस भाषण से वह परेशान हो गई। वह फर्श पर ही कै करने लगी। मेरे भी आंसू आ गए। राजी मुझे बड़ी अच्छी लगती थी। वह भी मुझे बहुत चाहती थी। उसे कै करती देख तो मुझे लगा, यह मर जाएगी। उसके बाद एक हफ्ते तक वह बेचारी बड़ी कमजोर और पीली-सी दिखती रही। घंटों तक वह भूखी जो रही थी।

राजी ने मुझे परेशान देखकर कहा था, "उल्वा! तू फिक्र न कर। मैं जल्दी ही ठीक-ठाक हो जाऊंगी। बस, इस पापमूलक जगह से मुक्त होने की देर है।" और फिर उसी शाम राजी के मां-बाप उसे लिवाने आ पहुंचे थे। उसके पिता ने उसकी जांच की। पीलिया हो गया था उसे। राजी का सामान समेटने-बांधने में मैंने ही उनकी मदद की थी। मैं राजी से पूछती रही, "जब तुम ठीक हो जाओगी, तब भी नहीं लौटोगी?"

"नहीं, अब मैं कभी यहां नहीं लौटूंगी। लेकिन सुनो! मैंने यहां के संडास की दीवारों पर इन भक्तिनों के नाम कुछ संदेश लिख डाले हैं। मैं चली जाऊंगी तो तुम जाकर पढ़ लेना, लेकिन किसीसे कहना मत कि मैंने लिखे हैं।"

राजी चली गई तो मैं एकदम अकेली पड़ गई। एक वही तो थी, जो देर रात तक पड़ी-पड़ी मुझसे बतियाती रहती थी। संडास में कोयले से लिखे उसके संदेश भी मैंने पढ़े। एक यह था—'बोर्डिंग की सहायक अध्यापिका एकदम बंदरिया है। उसकी खोपड़ी में भेजे की जगह गोबर और कुत्ते का पेशाब भरा हुआ है।' उसने यह भी लिखा हुआ था कि सारी भक्तिनों का अंत बुरा होगा, क्योंकि चाहे लाख कोशिश कर लें, ये भगवान की आंखों में धूल नहीं झोंक सकतीं।

१२

घरेलू किस्म की एनी को सुन्दर प्रेमी मिला

छुट्टियों में भी हम लोगों के दिन में तीन-तीन बार पढ़ाई के सत्र चला करते। एक घंटा सुबह, दो घंटे दोपहर बाद और फिर एक घंटा रात के खाने के बाद। उस दौरान हमें एकदम चुप साधकर सिर्फ किताब पर ही झुके रहना पड़ता।

हर सत्र की जो इंचार्ज भक्तिन होती, वह अपना ही कोई सिलाई-बुनाई का काम करती बैठी-बैठी कनखियों से हमें ताड़ती रहती कि कहीं कोई इधर-उधर ताक-झांक या बातचीत तो नहीं कर रहा। कोई भाग्यशाली दिन ही ऐसा होता, जब सिस्टर येकला की ड्यूटी लगती। वह बेचारी बड़ी ही भली थी। कभी किसीको रोकती-टोकती नहीं थी। बस या तो अपनी कोई किताब पढ़ती रहती या फिर अपने पुराने चोगों की मरम्मत करती रहती।

एक दिन मेरे साथ बैठी हुई थी एक पन्द्रह वर्ष की लड़की। नाम था एनी। वह एक ही खत को बार-बार पढ़े जा रही थी। मैंने देख लिया था। वह भी जान गई थी कि मैं देख रही हूं। वह फुसफुसाई, "यह खत पढ़ना तो जरा। एक लड़के ने लिखा है मुझे। खासा अमीर है और सुंदर भी। गोरा-गोरा। हमेशा मुझे ऐसे-वैसे खत लिखकर सताता रहता है।"

मैंने खत पढ़ा। हैरान रह गई। एनी को वह संसार की सुंदरतम लड़की मानता था, और यह कि वह इसे सिर्फ अपनी बांहों में ही भर लेना नहीं चाहता, बल्कि इसके होंठों का सारा रस भी छानना चाहता है। उसने लिखा था—

"एनी ! इतनी कठोर न बनो। मुझे एक मौका तो दो कि मैं अपने प्यार का प्रमाण दे सकूं।' एनी ने इसपर मेरी राय जाननी चाही थी। मैंने कहा था, "लगता है, वह बड़ा ढीठ है। क्यों ?"

यह प्रश्न करके मैं एनी का चेहरा पढ़ने लगी थी। एकदम सपाट चेहरा दिखा था मुझे। वह दुबली-पतली थी। भद्दे-से दांत थे। चिकने बाल। ऐसी लड़की को कोई अमीर लड़का इस कदर चाह सकता है ? मुझे तो उस लड़के पर तरस आने लगा था ; लेकिन मैंने फिर भी एनी को यही सलाह दी थी कि वह उसके प्यार का प्रत्युत्तर देने का पूरा-पूरा प्रयास करे।

एनी ने पूछा था, "तुम्हें प्यार में विश्वास है ?" और फिर मेरे उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना ही कंधे बिचकाकर मुस्कराई। कहने लगी थी, "तुम क्या जानो प्यार क्या होता है ! आखिर तो बच्ची ही हो न अभी।"

जब मैंने शारदा से एनी के प्यार का ज़िक्र किया तो वह नाराज़ होकर कहने लगी, "अरी ! वह तो बड़ी भयंकर लड़की है। खबरदार, जो उससे फिर कभी बात की ! उसके तो पास भी मत बैठा करो। या तो मेरे पास बैठा करो या मीनाक्षी के पास।"

लेकिन एनी तो जैसे मेरे ही साथ चिपकी रहने लगी थी। अक्सर वह मुझे इतवार को दोपहर बाद गुसलखाने में ले जाती। वहां दीवार के साथ लगकर वह अपने प्रेमी की बातें करती रहती। उसने मुझे एक ऐसा प्रेमपत्र भी दिखाया, जिसमें उसके प्रेमी ने उसकी गोल-गोल छातियों का ज़िक्र भी किया हुआ था, जिनपर वह बुरी तरह मर मिटा था और उन्हें छूने के लिए बेताब था। मैं यह सब पढ़कर हैरान रह गई। एनी बोली, "मैं न कहती थी, वह बदमाश है ! वह मुझे प्यार कहां करता है, सिर्फ मेरा शरीर चाहता है।"

और फिर मेरी नज़र एनी की छातियों पर जा पड़ी। एकदम सपाट थीं। मैंने कहा, "कह देना, मुझे ख़त न लिखा करे, नहीं तो मदर सुपीरियर से शिकायत कर दूंगी।"

एक दिन एनी ने मुझे एक ओर बुलाकर अपने ऊपरी होंठ पर का एक घाव दिखाया। बोली, "काट ही तो खाया है उसने।"

"किसने ?"

"उसीने। वही, जो अमीर लड़का मुझे चाहता है।"

"लेकिन कब ? कैसे ?"

"कल रात। दीवार फांदकर वह मेरे बिस्तर पर आ धमका था। तब तुम सब जनियां सो रही थीं।"

"यह तो हद है एनी ! तुम्हें फौरन शिकायत करनी चाहिए। इस तरह तो किसी दिन वह तुम्हें जान से भी मार सकता है।"

इसपर एनी रहस्यपूर्ण ढंग से मुस्करा दी थी। बोली थी, "तुम अभी बच्ची हो। प्यार को क्या समझो ! लेकिन बस एक तुम्हीं तो हो, जिससे मैं अपने दिल

की बात कह सकती हूं···"

और फिर एक दिन एनी को बोर्डिंग स्कूल से निकाल दिया गया। कोई ठोस कारण भी नहीं बताया गया था उसे निकालने का। हम लोगों के जगने से पहले ही वह स्कूल छोड़कर चली गई थी। पिछली रात उसका चाचा आया था उसे लिवा ले जाने।

बाद में शारदा की जबानी ही मुझे पता चला कि एनी सपनों के संसार में भटका करती थी। न तो कोई उसका प्रेमी था और न कोई उसे प्रेम-पत्र लिखा करता था। वह सब खुद ही लिख-लिखकर अपना जी बहलाया करती थी।

इसपर मीनाक्षी हंस दी थी, लेकिन मेरे मन में एनी के लिए कुछ-कुछ होने लगा था। चुप रह गई थी मैं। शारदा अपने लंबे बाल बाह रही थी। मुझे गुम-सुम हुई देखकर कह दिया था उसने, "हमारी नन्ही उल्वा पर अपना बुरा असर डाल गई लगती है एनी।"

हम लोग हर छुट्टियों में जब-जब भी घर जातीं, कुछ न कुछ लेकर ही लौटतीं। फल-वल या कोई मिठाई। एक बार मेरी नानी ने पके केलों का एक पूरा गुच्छा देकर भेजा था मुझे। रातोंरात वह गुच्छा का गुच्छा गायब हो गया था हमारे कमरे से। जाहिर था कि कोई बहुत भूखी रही होगी, जो चट कर गई थी सारे केले। छिलके खिड़की से बाहर फेंक गई थी।

मैं नहीं चाहती थी कि इस चोरी की किसीको खबर हो, पर न जाने हमारे बोर्डिंग की सहायक अध्यापिका को कैसे इसकी भू मिल गई थी और उसने अकारण ही ज़रा-सी बात का बतंगड़ बना डाला था। प्रार्थना के बाद उसने सब बच्चों को संबोधित कर कहा कि संत एंथोनी उससे बहुत नाराज़ हैं, जिसने केले चुराए है। चोर तीन दिन के अंदर-अंदर पागल हो जाएगा।

दो दिन तक हम लोग एक-दूसरे के चेहरों पर पागलपन के चिह्न ढूंढती फिरी थीं।

आखिर उसी शाम पूरी तरह से आतंकित एक लड़की गिरजाघर में संत एंथोनी के बुत के सामने बेतरह फफकने लगी। भक्तिनें पास खड़ी संत से प्रार्थना कर रही थीं कि इस बच्ची को क्षमा कर दें। वह लड़की खासी गुलगुली थी। पेटू-सी। शायद हमारे होस्टल के खाने से उसकी भूख नहीं मिटती थी। जो हो, मदर सुपीरियर ने उसको चेतावनी देकर छोड़ दिया था, मगर फिर तुरंत ही बाद उसको दौरे-से पड़ने शुरू हो गए तो उसे सदा के लिए घर भेज दिया गया।

पाप-भय के प्रेत ने कई लड़कियों के दिमाग हिला डाले थे। जो पहले एकदम सहज और ठीक-ठाक होतीं और उनके मन में कोई भी पाप न रहा होता, तो यहां पर भर दिया जाता था।

१३

भक्तिनें हमारा हर खत पढ़तीं

एक वार जव मैं वोर्डिंग में वीमार पड़ी, तव मेरे जिस्म पर लाल चकत्ते उभर आए थे। भक्तिनों ने तय किया कि मुझे घर भेज दिया जाए। पोनम्मा नाम की एक अधेड़-सी भक्तिन के साथ मुझे घर रवाना कर दिया गया। चलने से पहले शारदा ने मेरे चेहरे के लाल चकत्तों पर पाउडर छिड़क दिया था और मेरे वालों की 'पोनी-टेल' वनाकर पीला, चौड़ा रिवन वांध दिया था। पोनम्मा मुझे वस में लिए जा रही थी। सारे रास्ते-भर वह वाकी मुसाफिरों से यह कहकर सफाई दिए जा रही थी कि इसे खसरा नहीं निकला, यूंही मामूली एलर्जी हो गई है। वस-कण्डक्टर को हमसे हमदर्दी हो गई थी। वह वार-वार पोनम्मा को वहनजी-वहनजी कहकर वुला रहा था।

जव मैं नलपत हाउस पहुंची तो मेरी दादी हैरान होकर मेरी ओर लपक पड़ीं। पोनम्मा ने कहा, "इसे खसरा निकला है।"

दादी ने मुझे वताया, "तेरे भाई को भी निकल आया है। वह भी यहीं आया हुआ है। कल ही तो पहुंचा है अपने होस्टल से!"

फिर वह मुझे वीच के कमरे में ले गई थीं—मेरे भाई मोहन दास के पास। वह उस समय लेटा-लेटा एच० जी० वेल्स का कोई उपन्यास पढ़ रहा था। उसके चेहरे पर भी लाल चकत्ते उभरे हुए थे। मुझे देखते ही वह मुस्कराकर कहने लगा, "ओह! तो तुम भी आ पहुंचीं।"

हम लोग आम तौर पर एकसाथ ही वीमार पड़ा करते थे। कलकत्ता में थे

तो हम लोगों को एकसाथ ही बुखार आया करता था। उन दिनों लगता था कि चलो इस बहाने आराम तो मिला। रोग-शय्या पर पड़े-पड़े ही हम लोग चित्र बनाते रहते या फिर एलबमों में डाक टिकट चिपकाते रहते। बचपन में अगर मेरी निगाह में कोई हीरो (नायक) था तो वह मेरा भाई ही था। वह हर क्लास में फर्स्ट आया करता। चाहे जिस स्कूल में रहा हो, सारे इनाम वही जीतता। राष्ट्रीय नेताओं के व्यंग्य-चित्र भी वह बनाया करता। व्यंग्य-लेख लिखता। जब भी कभी वह भाषण देता तो अपनी आवाज के उतार-चढ़ाव से सुनने वालों को बांधे रखता। वह बहुत बढ़िया राजनीतिज्ञ बन सकता था, लेकिन वह बना डॉक्टर। बड़ा ही कामयाब सर्जन।

मैं अपने भाई से कहा करती कि मैं वकील बनूंगी। मैंने सुन रखा था कि वकील बहुत पैसा कमाते हैं और बड़े ठाठ से रहते हैं। कई-कई कारें और कई-कई नौकर होते हैं उनके पास। मुझे पैसा कमाने की बहुत चाह थी और खूब ठाठ से रहना चाहती थी। शायद यही कारण था कि जब-जब भी हम कोई नाटक खेलते, मैं अपने लिए किसी मलिका या शहजादी की भूमिका ही चुनती। मुझे हीरे-जवाहरात की चौंध बहुत भाती। सिल्की कपड़ों और इत्र-फुलेल की खुशबू बहुत अच्छी लगती। मैं अक्सर दिवा-स्वप्न देखा करती कि मैं कोई मलिका हूं, जेवरों से लदी-फंदी और मेरी मुट्ठी में पूरे मुल्क की तकदीर बंद है। एक तरह की नूरजहां जैसी। जब-जब भी मैं आईने के सामने होती तो मुझे अपना वास्तविक रूप देखना कतई अच्छा न लगता, क्योंकि मेरा वास्तविक स्वरूप तो था—दुबला-पतला जिस्म, सीधा-सादा चेहरा और उभरे हुए दांत।

जब हम यानी मैं और मेरा भाई बिछुड़ गए तो मैं अकेली-अकेली, खोई-खोई-सी रहने लगी थी, क्योंकि हम दोनों के बीच एक अंतहीन संवाद का सिलसिला जारी रहता था, बावजूद खामोशी के। कुछ ऐसा सा सम्बन्ध था हमारा जैसे कि हवा का धरती के साथ या फिर धूप का पेड़ों के साथ। मैंने अपने भाई को दो खत लिखे, लेकिन शायद वे रूखे-सूखे खत थे, इसलिए उसने कोई उत्तर नहीं दिया था; और क्योंकि मेरे स्कूल की भक्तिनें हमारे खतों को सेंसर करती थीं, इसीलिए वे खत रूखे होने ही थे। वे लोग हमें मजबूर किया करतीं कि हम अपने घर वालों को यह लिखें कि हम बोर्डिंग में बहुत खुश हैं और हर रोज हम भगवान से प्रार्थना करते हैं कि हे भगवान, हमारे घर वालों को सुखी रखें। मेरे ऐसे खतों से मेरे भाई को हैरानी हुई होगी कि कहीं मेरा दिमाग तो नहीं चल गया। वह सोचता होगा कि मेरी सामाजिक, राजनीतिक चेतना को क्या हो गया है और कहां गई वह मेरी जिज्ञासा।

शुरू-शुरू में जब मैं वहां के वातावरण से बहुत दुखी हो रही थी तो मैंने पिताजी को एक खत लिखकर जैसे-तैसे डलवाया था। उस खत में मैंने लिखा था कि मुझे इस जहन्नुम से छुटकारा दिलवाओ। मुझे वहां की सब्जियों में से भी मांस की सी दुर्गंध आती। वहां के ठंडे पानी से भी मुझे नफरत थी, जिससे

नहा-नहाकर मेरा जिस्म दुखने लगा था। पिताजी ने मेरे उस खत का कोई जवाब नहीं दिया था ; लेकिन जब मुझे वहां रहते एक साल बीत गया तो मुझे अपने कमरे की सहेलियां पसंद आने लगीं और बोर्डिंग भी जहन्नुम लगना बंद हो गया।

फिर पिताजी मुझे वापस कलकत्ता ले गए। अब मैं फिर से अपने घर में थी। हमारा परिवार बढ़कर छ: जनों का हो गया था। एक छोटा भाई और एक छोटी बहन और आ गए थे। उन दिनों हम लैंसडाउन रोड पर एक पुराने पीले मकान में रहा करते थे। ऊंची-ऊंची छतों वाले बड़े बेडरूम थे। बरामदों में खस की चिकें लटकी रहतीं। एक छोटा-सा बगीचा था। बगीचे में हम लोगों ने कैकटस उगाए थे। पिछवाड़े में था रसोईघर और एक कोयले रखने का शैड तथा हमारे रसोइये और उसकी पत्नी के लिए एक कमरा। उसकी पत्नी हमारे यहां आया का काम भी करती थी।

कोयलों के शैड में सोया करता था हमारा बूढ़ा चपरासी। वहीं एक कोने में वह पेशाब किया करता था, जिसकी दुर्गंध रसोईघर तक आती थी। वह हर शाम पीता और अपनी चारपाई पर बैठा-बैठा बीड़ियां फूंका करता। हालांकि वहां बिजली का बल्ब लटका हुआ था, लेकिन वह उसे कभी नहीं जलाता था। एक दिन वह मुझसे बोला, "मैं तुम्हारे पिताजी का पैसा बरबाद करना नहीं चाहता। कुन्नमकुलम में जब मैं भूखों मर रहा था, तब तुम्हारे पिताजी ने मुझे बचाया और यहां ले आए, और अब यह हालत है कि मैं अपने बेटों की पढ़ाई और बेटियों के कपड़े-लत्ते के लिए काफी पैसा घर भेजता हूं। तुम्हारे पिताजी तो राजा हैं। भगवान के बाद कहो उन्हें। मैं तो उन्हें दुनिया में सबसे अधिक पूजता हूं। समझीं ?" और मैं उसकी खाट पर बैठी-बैठी मूंड हिलाती रही। वह साठ से अधिक पहुंच चुका था। एकदम टूट चुका लगता था ; लेकिन वह दिन-भर पिताजी के दफ्तर में काम करता, उनके क्लर्कों के लिए चाय बनाता, और फिर शाम को वह हमारा चपरासी बन जाता। हमारे रिश्तेदारों तक का भी काम किया करता। श्री और श्रीमती के० एन० मेनन के लिए भी, जो कि ऑब्रे मेनन (अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध लेखक) के माता-पिता थे।

एक दिन उसे अपने बेटे का खत मिला कि मां मर रही है। खत पाकर वह बुड्ढा नाक सुड़कता हुआ मेरी मां के पास आया, "मुझे सौ रुपये चाहिए, तुरंत, बीवी की अंतिम क्रिया के लिए।" और फिर उसने घंटे-भर के अंदर-अंदर ही सौ रुपये तार मनीऑर्डर द्वारा भिजवा दिए। और वह भावी विधुर अपनी खाट पर बैठा-बैठा ही अपनी पत्नी के बारे में भूतकाल में बातें करने लगा। याद करने लगा अपनी पत्नी के बीते हुए सौंदर्य तथा उसकी रहमदिली को।

लेकिन हुआ यह कि एक सप्ताह बाद ही उसकी पत्नी ठीक-ठाक हो गई और उसने रुपये भेजने के लिए धन्यवाद का खत लिखा।

खत पाते ही वह गुस्से से बौखला उठा। चिल्लाया, "यह निकम्मी औरत

मेरे सौ रुपये हड़प गई। कुछ महीने बाद मरेगी तो और कहां से लाऊंगा फिर से सौ रुपये!" कहते ही वह चला गया और फिर शाम को पीकर धुत्त हो लौटा। मुझसे कहने लगा, "काहे को नहीं मर गई वो ठीक समय पर?" और फिर जब मैं उसकी ओर देखकर मुस्करा दी तो वह मुंह हिला-हिलाकर कहने लगा, "जैसी भगवान की मर्जी।"

१४

'मैं एक अमीर आदमी से शादी करना चाहती थी'

हम अपने घर की वालकनी में खड़े होते तो सामने सड़क पार उस धनवान महिला की कोठी का वगीचा दिखाई पड़ता, जो कभी बहुत प्रसिद्ध 'भुवाल संन्यासी कांड' से संबंधित थी। उसका पति जब बहुत जवान था तो किसी पहाड़ पर उसकी मृत्यु हो गई थी। लेकिन कई सालों के बाद एक दिन उस परिवार में एक संन्यासी आया। संन्यासी ने कहा कि मैं वही हूं, जिसे तुम लोग मर चुका समझ बैठे हो। हुआ यों था कि अर्थी ले जाने वालों ने जब लाश को चिता पर रखकर आग लगाई थी, तभी भयंकर वारिश होने पर वे लोग भाग खड़े हुए थे। वारिश से चिता बुझ गई थी और लाश को होश आ गई थी। तभी उधर से एक संन्यासी गुजरा, जो उसे उठाकर अपने आश्रम में ले गया और उसे स्वस्थ कर दिया। वाद में वह भी संन्यासी हो गया। लेकिन बहुत वाद में उसने दोवारा कलकत्ता जाना तय कर लिया, क्योंकि परिवार की बहुत बड़ी जायदाद थी और उसे जायदाद का मोह हो आया था ; लेकिन जब वह घर पहुंचा तो पत्नी ने उसे अपना पति मानने से इन्कार कर दिया। वह उसे जालसाज समझती रही। इसपर संन्यासी ने अदालत में मुकदमा दायर किया ; लेकिन इससे पहले कि अदालत कोई फैसला कर पाती, वह वीमार पड़ा और मर गया।

उसकी विधवा सादा सफेद साड़ी पहने रंग-बिरंगे गुलावों के बीच खड़ी हमें दिखाई दिया करती। उसके वगीचे में परिन्दों का बहुत अधिक शोर सुनाई दिया करता।

लेकिन उस महिला की आवाज कभी न आती, न ही वह कभी कहीं बाहर जाती। उसके साथ उसका भाई रहा करता था। हम अक्सर देखा करते कि वह भी चुपचाप विजित-सा सधे-सधे कदम भरता बगीचे में टहला करता। लगता, जैसे कि दोनों अपने-अपने तई कहीं जानते हैं कि मन पर सन्देहों का बोझ है, जो कभी नहीं उतर पाएगा।

हमारे घर के बाईं ओर एक और अमीर परिवार रहता था। उनके यहां आए दिन बड़ी-बड़ी पार्टियां हुआ करती थीं। देश-विदेश के बड़े-बड़े लोग उन पार्टियों में आया करते थे। वह नये विचारों का परिवार था और पुराने नैतिक नियमों को तोड़कर नई नैतिकता की स्थापना में उन्हें आस्था थी। 'मौरल रीआर्मामेण्ट' नामक एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था थी उन दिनों। उस संस्था का जो भी सदस्य भारत आता तो कलकत्ता में इस परिवार से मिलने अवश्य आता। परिवार की गृहिणी खासी मोटी-ताज़ी थी। हम अक्सर देखा करते कि सुबह-सुबह वह अपने रसोइये को पास बैठाकर रसोईघर का हिसाब-किताब जांचती या फिर सलाद काटा करती। उसका सबसे छोटा बेटा अक्सर हमारे यहां बैडमिंटन खेलने आया करता था। हमारे रसोईघर और खाने वाले कमरे के बीच एक आंगननुमा जगह थी, वहीं हम खेला करते। वह लड़का भी मोटा-ताज़ा था और लबचू भी। अपने स्कूल में जीते गए मैचों के ब्योरे सुना-सुनाकर वह हमें बोर किया करता।

उसे अक्सर पैसों की जरूरत रहा करती और वह हमसे चवन्नी मांगने चला आता। मेरी माताजी अक्सर बटनों वाली डिबिया में थोड़ी-बहुत रेजगारी रख दिया करती थीं। मैं उस डिबिया को खोलकर एक-आध सिक्का निकाल उसे दे दिया करती। उस लड़के को आइसक्रीम खाने को अक्सर पैसों की जरूरत पड़ा करती।

हमारे घर के दाईं ओर एक टूटा-फूटा मकान था, जिसमें मायोपुर के ज़मींदार रहा करते। उनकी एक बेटी थी। मेरी ही उम्र की रही होगी। नाम था शांतू। शांतू के गाल पर एक तिल था, जिसपर उसे बड़ा गर्व था। वह इसे सुंदरता का सूचक मानती और कहा करती कि लाखों में एक के होता है यह। उसकी यह बात सुनकर मैं जल-भुन जाया करती। उन दिनों मुझे चश्मा भी चढ़ चुका था। मेरी दूर की नज़र कुछ कमज़ोर हो गई थी। मेरे चश्मे को देखकर शांतू कहा करती, "मैं तो मर जाऊं, पर चश्मा कभी न पहनूं।"

उन दिनों हमें मणिपुरी नृत्य सिखाने एक टीचर आया करते थे। उनका नाम था ब्रजवासी। उन्हींसे मणिपुरी नृत्य सीखने हमारी पड़ोसिन लड़की हर शाम आया करती।

एक दिन हमारे माता-पिता घर पर नहीं थे तो वह लड़की हमारे यहां आई और मुझे अपने घर ले गई। उसके घर की शान-शौकत देखकर मैं दंग रह गई। ऐसा ठाट-बाट वाला घर मैंने पहले कभी नहीं देखा था। मनियारों और बड़े-बड़े

कमरों से होती हुई वह मुझे सीढ़ियां चढ़वाकर एक वेडरूम में ले गई। वहां एक पलंग पर सिल्की लिहाफ ओढ़े पड़े एक वृद्ध से मेरा परिचय कराती हुई बोली, "दादू, ये मेरी सहेली है कमला।" वह शांतू का दादा था। उसकी खाली-खाली निगाहें और हंसता हुआ मुंह देखकर मैं डर गई। जब मैं वहां से निकली तो मुझे पसीना आ रहा था।

लेकिन बाद में मैंने कई दफा भगवान से यह प्रार्थना की कि हे भगवान, मुझे इतनी पैसे वाली बना दे कि मैं भी ऐसे मकान में रह सकूं। मैं किसी अमीर आदमी से शादी करना चाहती थी, जो ज़मींदार हो और कलकत्ते में रहता हो। इससे भी बढ़कर मैं यह चाह उठी कि मेरी भी गर्दन सदा गर्व से तनी रहे।

१५

हमें तरह-तरह से सताया जाता

पिताजी ने मुझे घर के पास वाले एक स्कूल में दाखिल करा दिया था। एक ज़माना था, जब उस स्कूल के साथ एक कॉलिज भी था, लेकिन उस कॉलिज के एक विद्यार्थी ने अंग्रेज गवर्नर को गोली मारने का विफल प्रयास किया था। नतीजा यह निकला कि कॉलिज ठप्प।

उस कॉलिज के बड़े-बड़े कमरे अब मास्टरों के बेडरूम बन चुके थे या लाइब्रेरी। कलकत्ता के उच्च वर्ग के परिवार गांधीजी के विचार में रंग चुके थे। वे अपने बच्चों को 'लारेंटो हाउस' जैसे अंग्रेज़ी स्कूल में दाखिल कराने की बजाय हमारे वाले स्कूल में ही भेजा करते थे।

हमारी प्रिंसिपल थीं एक अधेड़ अविवाहित महिला। वह जिससे प्यार करती, बहुत अधिक करतीं और जिससे नफरत करती, वह भी उतनी ही अधिक। शारीरिक आकर्षण ही उनके प्यार का आधार था और बदसूरत बच्चों से वह नफरत करती थी। वह अक्सर मेरे स्कूल की एक सहेली को रात में देर तक पढ़ने से मना किया करती। मेरी यह सहेली बहुत सुन्दर थी और मेरी प्रिंसिपल को यह भय था कि रातों को जागने से कहीं उसकी सुन्दरता और स्वास्थ्य न बिगड़ जाए। हमारी लगभग सारी अध्यापिकाएं बुढ़िया थीं और उनके चेहरों से यह लगता था कि वह जीवन में ठुकराई गई महिलाएं है। शायद यही कारण था कि उन्हें हम लोगों को तरह-तरह से सताने में सुख मिला करता था।

उन दिनों एक मेरी बड़ी पक्की सहेली थी रमोला। काफी चुस्त-दुरुस्त

बड़ी चलती पुर्जा भी थी और हिसाड़ भी। वह सबको कहती थी।

अमीर बंगाली परिवारों की लड़कियां बड़ी अकड़ में रहा करती थीं और हम सबसे अलग-थलग भी। वे आपस में भी अक्सर शरद् बाबू के उपन्यासों की बातें किया करतीं या फिर रवीन्द्र संगीत की। उनका खाना लेकर उनके यहां से नौकर आया करते। चमचम करते बरतनों में खाना आया करता। डेस्कों पर सजाकर वे खातीं तो मछली, भात और मिठाइयों की गंध फैल जाती।

हम लोग बहुत रूखा-सूखा-सा लंच ले जाया करते। हममें से कोई लंच के समय अगर उन बंगाली लड़कियों के करीब से गुज़रती तो वे लोग अपनी प्लेटें छिपा लेतीं कि कहीं उनके खाने को नज़र न लग जाए। हालांकि मुझे उनकी इस हरकत पर खिल्ली उड़ाने को मन करता, क्योंकि मुझे उनका खाना चिपचिपा और गंदा लगता। उस खाने की तुलना में मुझे अपने पनीर-सैंडविच कहीं बेहतर लगते।

तमिल परिवारों की लड़कियां अपना दही-भात सीढ़ियों के नीचे या गुसलखानों में छिपकर खाया करतीं। दही-भात में वे हरी मिर्चें व नीबू मिला चिपचिपा-सा एक घोल डाला करतीं। शायद ऐसे हीन भोजन के कारण ही उन तमिल लड़कियों में हीन भावना आ गई थी। बंगाली लड़कियां भी उनका मुंह चिढ़ाया करती थीं।

हमारे हिसाब की अध्यापिका जवान भी थी और सुन्दर भी। क्लास में ममता नाम की मेरी एक सहेली थी। ममता को वह अध्यापिका बहुत अच्छी लगा करती थी। जिस ढंग से वह बैठी-बैठी उसे निहारा करती, उसे देखकर मुझे लगता, गोया उसे इश्क हो गया है। ममता बार-बार मुझसे पूछती, "है कोई संसार में इससे सुन्दर?" ममता हिसाब में कमज़ोर थी और अक्सर उसे क्लास में सजा भी मिला करती। सज़ा पाती हुई भी वह संतों-सी मुद्रा बनाए रखती। उस अध्यापिका को जब कहीं और अच्छी जगह नौकरी मिल गई तो वह कलकत्ता छोड़ गई। उसके जाने से ममता इतनी बेचैन हो गई कि उसने भी स्कूल आना छोड़ दिया।

हमारी अंग्रेजी की अध्यापिका थीं एक ऑस्ट्रियन यहूदी परिवार की। नाज़ी जर्मनी से खदेड़े हुए जो परिवार ऑस्ट्रिया में जा बसे थे, उन्हींमें से थीं ये। लाल चेहरा, चुस्त शरीर। जर्मन लहजे में अंग्रेजी बोलतीं। लड़कियां उनकी क्लास में अक्सर दंगा मचाया करतीं। उनके कपड़ों पर लड़कियां स्याही तक छिड़क दिया करती थीं। एक दिन उन्होंने एक लड़की को स्याही छिड़कते हुए पकड़ लिया और बहुत ही परेशान होकर कहने लगीं, "मैं तुम लोगों की तरह पैसे वाली नहीं हूं। मेरे पास तो कपड़े भी काफी नहीं हैं।" और उनकी आंखों में आंसू आ गए थे। लड़की का चेहरा शर्म से झुक गया था।

मैंने क्योंकि स्कूल में कुछ देर से दाखिला लिया था, इसलिए उस कमी को पूरा कराने के लिए मेरे पिताजी ने कई ट्यूटर लगा दी थीं। उनमें से एक थी

सीरिया की रहने वाली ईसाई औरत—अधेड़ अविवाहिता। छोटा कद था, मगर थी बहुत जबरजंग। नेपोलियन का जनाना संस्करण। मुझे उससे बड़ा भय लगता। एक शाम की बात है, वह हमारे कमरे में खिड़की के पास पर्दे की ओट में खड़ी बाहर झांक रही थी। हमारे पड़ोस के मकान में बाल-नृत्य (अंग्रेजी नाच) का आयोजन था। सजी-धजी औरतें हलके संगीत की लय पर मर्दों के साथ नाच रही थीं। फूलों और सेंट की सुगंधें हम तक उड़ी आ रही थीं। मैं भी अपनी ट्यूटर के पास खड़ी यह नजारा देख रही थी। बड़ा अच्छा लग रहा था मुझे।

तभी मैंने एक सांवले आदमी को उस घर में घूमते देखा। वह मुस्करा रहा था। उसने बुश्शर्ट पहन रखी थी। उसपर निगाह पड़ते ही मेरी ट्यूटर की मुट्ठियां सहसा पर्दे को मरोड़ने लगीं, और अनायास उसके मुंह से निकल गया, "मत देखो उसे—वही, जिसने बुश्शर्ट पहन रखी है। इससे ज्यादा दुष्ट आदमी दुनिया-भर में नहीं है। मैं अच्छी तरह जानती हूं इसे…।" उसका चेहरा पीला पड़ गया था और स्वर में असीम घृणा थी, "मैं उससे नफरत करती हूं।"

मैंने उस आदमी की ओर देखा, जिसने मेरी ट्यूटर के मन में तूफान पैदा कर दिया था। उस समय वह किसीके साथ नाच रहा था। उसके कदम हौले-हौले पड़ रहे थे।

"मुझे तो सुन्दर लगता है।" मैंने कहा।

वह मुझे जल्दी से परे खींच ले गई। बोली, "मत देखो उसे। कई अच्छी लड़कियों का जीवन बरबाद किया है उसने। इस देश के कई परिवारों को कलं-कित किया है।"

मैंने पूछा, "लड़कियों का जीवन इसने कैसे नष्ट किया?"

इसपर वह परेशान हो गई। कोई जवाब न दे सकी।

उस घटना के बाद मैंने उस आदमी के बारे में अक्सर सोचा। सांवला-सा था वह। इकहरा बदन। ऐसा कुछ भी तो न था कि कोई राहचलता उसकी ओर आकर्षित हो जाता। फिर भी मेरी अध्यापिका ने जो उसके लिए 'दुष्ट' शब्द इस्तेमाल किया था, शायद इसी शब्द ने मेरी दृष्टि में उसके प्रति आकर्षण पैदा कर दिया था। यह पहला अवसर था, जब मैंने किसी बदनाम आदमी को देखा था। मैं चाह उठी थी कि बड़ी होकर उससे जरूर मिलूंगी और उसकी रखैल बन जाऊंगी। उन दिनों मैं अपनी उम्र के वयसन्धि काल से आई ही आई थी। उस उम्र की सारी समझदारी ने मेरे कानों में फुसफुसाकर कह दिया था कि दुष्ट आदमी से शादी करके तो चलेगा नहीं, पर हां, उसकी रखैल बनकर उसकी दुष्टता का दर्द अलबत्ता सहने योग्य बन जाएगा, क्योंकि उस सूरत में ऐसे 'प्यारे पापी' को क्षमा कर विदा हो लेने की संभावनाएं बनी रहेंगी।

१६

मैंने सूर्य भगवान से एक बेटे का वर मांगा

जब हमारी नौकरानी ने एक रसोइये से शादी कर ली तो वह उसीके कमरे में रहने लगी। रसोइये के घर के ऊपर ही उनका कमरा था। मैं बड़े बेड-रूम में अकेली सोया करती थी। बाहर बरामदा था। ऊंची-ऊंची छतों वाला पुराना मकान था। लम्बी-लम्बी लोहे की छड़ों पर लटके पंखे घरघराकर चला करते।

मुझे अंधेरे से डर लगा करता। घर में घोंसले बनाए चहचहाते हुए पक्षियों की आवाजें भूत-प्रेतों जैसी लगतीं। हर रात मैं पढ़ने के बहाने बत्ती जली छोड़-कर ही सो जाती, लेकिन रात को दो-तीन बजे के आसपास जब मेरी आंख खुलती तो देखती, कमरे में अंधेरा है। मेरे सो जाने के बाद माताजी या पिताजी में से कोई आकर बत्ती बुझा जाता था।

मैं जागती पड़ी रहती। मेरे कमरे के साथ-लगवां एक हॉल था, जिसमें हमसे पहले किरायेदार का सामान पड़ा हुआ था—दीवान, भारी-भारी कालीन, हैट-स्टैंड, लकड़ी के बड़े-बड़े सन्दूक वगैरह-वगैरह। उस किरायेदार का बाप नौसेना में कप्तान था।

मुझे अंधेरे में पड़ी-पड़ी ऐसा महसूस होता, जैसे उस बूढ़े कप्तान का प्रेत दीवार में से झांक रहा है। उसका जो नक्शा मैंने अपने दिमाग में बना रखा था, वह काफी डरावना था। लुटेरों जैसा टोप पहने एक बूढ़ा दढ़ियल आदमी। दिन के समय तो उसके कमरे से मुझे इतना भय नहीं लगता था। पिताजी ने हमको उस

कमरे में जाने तथा उनके सामान को छेड़-छाड़ करने से मना किया हुआ था; लेकिन जब पिताजी घर पर न होते तो मैं उस कमरे में चली जाती और उस मृत व्यक्ति के सामान का जायजा लेने लगती।

हमारे घर के पिछवाड़े घुमावदार सीढ़ियां थीं, जिनका प्रयोग हमारे नौकर-चाकर या बैडमिंटन क्लब के छोकरे ही किया करते ताकि झट से ऊपर छत पर बनी मंडाम तक पहुंच सकें। एक दिन मैंने भी वे घुमावदार सीढ़ियां चढ़ने की कोशिश की, लेकिन रास्ते में ही चकराकर रुक गई और बेहोश होने को ही थी कि नौकरानी ने मुझे बचा लिया। मुझे उठाकर वह पूजाघर में ले गई। पूजाघर में बैठी माताजी कृष्ण की मूर्ति के आगे कांसे का दीपक जला रही थीं।

मेरी फ्रॉक पर लहू के बड़े-बड़े धब्बे उभर आए थे। मेरी जांघों पर गर्म-गर्म खून बह-बहकर नीचे फर्श पर टपक रहा था। माताजी को देखते ही मैं रो पड़ी, "मां, यह क्या हो रहा है मुझे, मैं तो मर जाऊंगी। लगता है, मेरे भीतर जैसे कुछ टूट गया है। देखो न यह सब खून ही खून···।"

माताजी ने मेरा फ्रॉक उठाकर देखा तो हंस दीं। बोलीं, "घबराने की कोई बात नहीं बेटी, बारह-तेरह की उम्र में हर लड़की को ऐसा ही होता है।" फिर उन्होंने मुझे कपड़े बदलने को कहा और पैड पहनने सिखाए। यह भी बताया कि इस खून का आने का अर्थ है कि मैं अब मां बन सकने के काबिल हो गई हूं।

मुझे कपड़े बदलती देखकर नौकरानी हंसती चली जा रही थी। बोली, "कैसी सीधी है हमारी बिटिया रानी!" तीन दिन तक खून जाता रहा, फिर मैं ठीक-ठाक हो गई। यह सोच-सोचकर खुश थी कि अब मैं मां बन सकती हूं। जितनी जल्दी हो सके, मैं मां बनना चाह उठी थी। मैंने अपनी दादी के मुंह से कुंती की कहानी सुनी थी। पांडवों की माता कुंती ने जिस ढंग से अच्छे पुत्र प्राप्त किए थे, उससे मैं बहुत प्रभावित हुई थी।

कुंती ने सूर्यदेव से प्रार्थना करके एक पुत्र का वर मांगा था तो उसकी कोख से पैदा हुआ था कर्ण, जो गर्भ से ही कानों में कुंडल पहने जन्मा था और जिसका शरीर सूर्य की तरह चमक रहा था। मैं जब नहा चुकी और अपने कमरे में अकेली रह गई तो सारे कपड़े उतारकर धूप में लेट गई। मैंने भी तब सूर्य भगवान से एक बेटे का वर मांगा था। वर मांगते हुए कहा था, "मेरा सब कुछ ले लो— ये मोटी-मोटी जांघें, ये गोल-गोल वक्ष, ये लहरीले बाल, सब ले लो और मुझे एक बेटा दे दो।" लेकिन कोई देवता नहीं आया था मुझे अपनी पत्नी के रूप में अपनाने। फिर धीरे-धीरे मेरी उम्र बढ़ने लगी। मेरे पसीने की गंध तक बदल गई।

मुझे नृत्य सिखाने जो मास्टर आया करता था, पिताजी ने उसे यह कहकर हटा दिया कि अब मैं नृत्य सीखने की उम्र लांघ चुकी हूं।

चौरंगी में एक बड़ा प्रसिद्ध दांतों का डॉक्टर हुआ करता था। उन्होंने मेरे उभरे दांतों को बांध-बूंधकर सीधा किया था। जब मेरे दांत बिलकुल ठीक हो

१६

मैंने सूर्य भगवान से एक बेटे का वर मांगा

जब हमारी नौकरानी ने एक रसोइये से शादी कर ली तो वह उसीके कमरे में रहने लगी। रसोइये के घर के ऊपर ही उनका कमरा था। मैं बड़े बेड-रूम में अकेली सोया करती थी। बाहर बरामदा था। ऊंची-ऊंची छतों वाला पुराना मकान था। लम्बी-लम्बी लोहे की छड़ों पर लटके पंखे घरघराकर चला करते।

मुझे अंधेरे से डर लगा करता। घर में घोंसले बनाए चहचहाते हुए पक्षियों की आवाजें भूत-प्रेतों जैसी लगतीं। हर रात मैं पढ़ने के बहाने बत्ती जली छोड़-कर ही सो जाती, लेकिन रात को दो-तीन बजे के आसपास जब मेरी आंख खुलती तो देखती, कमरे में अंधेरा है। मेरे सो जाने के बाद माताजी या पिताजी में से कोई आकर बत्ती बुझा जाता था।

मैं जागती पड़ी रहती। मेरे कमरे के साथ-लगवां एक हॉल था, जिसमें हमसे पहले किरायेदार का सामान पड़ा हुआ था—दीवान, भारी-भारी कालीन, हैट-स्टैंड, लकड़ी के बड़े-बड़े सन्दूक वगैरह-वगैरह। उस किरायेदार का बाप नौसेना में कप्तान था।

मुझे अंधेरे में पड़ी-पड़ी ऐसा महसूस होता, जैसे उस बूढ़े कप्तान का प्रेत दीवार में से झांक रहा है। उसका जो नक्शा मैंने अपने दिमाग में बना रखा था, वह काफी डरावना था। लुटेरों जैसा टोप पहने एक बूढ़ा दढ़ियल आदमी। दिन के समय तो उसके कमरे से मुझे इतना भय नहीं लगता था। पिताजी ने हमको उस

कमरे में जाने तथा उनके सामान की छेड़-छाड़ करने से मना किया हुआ था; लेकिन जब पिताजी घर पर न होते तो मैं उस कमरे में चली जाती और उस मृत व्यक्ति के सामान का जायजा लेने लगती।

हमारे घर के पिछवाड़े घुमावदार सीढ़ियां थीं, जिनका प्रयोग हमारे नौकर-चाकर या बैडमिंटन क्लब के छोकरे ही किया करते ताकि झट से ऊपर छत पर बनी संडास तक पहुंच सकें। एक दिन मैंने भी वे घुमावदार सीढ़ियां चढ़ने की कोशिश की, लेकिन रास्ते में ही चकराकर रुक गई और बेहोश होने को ही थी कि नौकरानी ने मुझे बचा लिया। मुझे उठाकर वह पूजाघर में ले गई। पूजाघर में बैठी माताजी कृष्ण की मूर्ति के आगे कांसे का दीपक जला रही थीं।

मेरी फ्रॉक पर लहू के बड़े-बड़े धब्बे उभर आए थे। मेरी जांघों पर गर्म-गर्म खून बह-बहकर नीचे फर्श पर टपक रहा था। माताजी को देखते ही मैं रो पड़ी, "मां, यह क्या हो रहा है मुझे, मैं तो मर जाऊंगी। लगता है, मेरे भीतर जैसे कुछ टूट गया है। देखो न यह सब खून ही खून…।"

माताजी ने मेरा फ्रॉक उठाकर देखा तो हंस दी। बोली, "घबराने की कोई बात नहीं बेटी, बारह-तेरह की उम्र में हर लड़की को ऐसा ही होता है।" फिर उन्होंने मुझे कपड़े बदलने को कहा और पैड पहनने सिखाए। यह भी बताया कि इस खून का आने का अर्थ है कि मैं अब मां बन सकने के काबिल हो गई हूं।

मुझे कपड़े बदलती देखकर नौकरानी हंसती चली जा रही थी। बोली, "कैसी सीधी है हमारी बिटिया रानी!" तीन दिन तक खून जाता रहा, फिर मैं ठीक-ठाक हो गई। यह सोच-सोचकर खुश थी कि अब मैं मां बन सकती हूं। जितनी जल्दी हो सके, मैं मां बनना चाह उठी थी। मैंने अपनी दादी के मुंह से कुंती की कहानी सुनी थी। पांडवों की माता कुंती ने जिस ढंग से अच्छे पुत्र प्राप्त किए थे, उससे मैं बहुत प्रभावित हुई थी।

कुंती ने सूर्यदेव से प्रार्थना करके एक पुत्र का वर मांगा था तो उसकी कोख से पैदा हुआ था कर्ण, जो गर्भ से ही कानों में कुंडल पहने जन्मा था और जिसका शरीर सूर्य की तरह चमक रहा था। मैं जब नहा चुकी और अपने कमरे में अकेली रह गई तो सारे कपड़े उतारकर धूप में लेट गई। मैंने भी तब सूर्य भगवान से एक बेटे का वर मांगा था। वर मांगते हुए कहा था, "मेरा सब कुछ ले लो—ये मोटी-मोटी जांघें, ये गोल-गोल वक्ष, ये लहरीले बाल, सब ले लो और मुझे एक बेटा दे दो।" लेकिन कोई देवता नहीं आया था मुझे अपनी पत्नी के रूप में अपनाने। फिर धीरे-धीरे मेरी उम्र बढ़ने लगी। मेरे पसीने की गंध तक बदल गई।

मुझे नृत्य सिखाने जो मास्टर आया करता था, पिताजी ने उसे यह कहकर हटा दिया कि अब मैं नृत्य सीखने की उम्र लांघ चुकी हूं।

चौरंगी में एक बड़ा प्रसिद्ध दांतों का डॉक्टर हुआ करता था। उसीने मेरे उभरे दांतों को बांध-बूधकर सीधा किया था। जब मेरे दांत बिलकुल ठीक हो

खुश फिरने लगी थी और दिन में तीन-तीन बार मुंह धोना शुरू कर दिया था। गाल पर कभी कोई कील-वील निकल आती तो उसपर लिपस्टिक मल देती ताकि देखने में भद्दी न लगे। मैंने चश्मा भी उतार फेंका था, क्योंकि चश्मे ने मेरी आंखों की सुंदरता ढक रखी थी।

बंगाली उपन्यासों की नायिकाओं की तरह मैंने भी अपनी आंखों में उदासी पैदा करने की कोशिश की थी। उन नायिकाओं की आंखों की यही उदासी नायकों को आकर्षित किया करती थी। मगर मुझे उदासी ओढ़े रहना कठिन लगा था, क्योंकि उन दिनों मेरा स्वभाव ऐसा हो चला था कि किसी न किसी बात पर खिलखिलाकर हंस देने को मन होता था और ऐसा लगने लगा था, यह दुनिया तो कभी भी इतनी जवान न थी, इतनी खुशियों में भरी न थी।

तेरह साल की उम्र में जब गर्मियों की छुट्टियों में अपने घर मालाबार गई तो वहां एक लड़के से मुझे प्यार हो गया। वह छात्र-नेता था और अपनी क्रान्तिकारी गतिविधियों के कारण उसे जेल हो गई थी। मेरे प्यार का उसने कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया था, क्योंकि उसे तो केवल राजनीति से प्यार था। सभी राजनीतिक दार्शनिकों की पुस्तकें उसने पढ़ रखी थीं। बातचीत में भी वह उन्हीं पुस्तकों की भाषा बोला करता। जब कभी वह जोश में आता तो उसकी आंखों की पुतलियां चढ़ जातीं और सफेद-सफेद डेले-भर दिखते रह जाते। एक दिन मेरी दादी ने कहा, "यह तो सर्प-नेत्री लड़का है। ऐसी आंखों वालों पर विश्वास नहीं करना चाहिए।" शायद मेरे हाव-भाव से दादी ताड़ गई थीं कि मैं उस लड़के पर रीझ गई हूं। मैं अधिक से अधिक समय उस लड़के के साथ बिताने की कोशिश करती, लेकिन उसने एक बार भी मेरा हाथ तक न छुआ, और न ही कभी यह जाहिर किया कि उसके मन में भी कहीं कुछ है।

दादी ने मुझे हरे रंग के दो लंबे स्कर्ट और पीले रंग के दो ब्लाउज़ सिलवा दिए थे। मेरे पास गहना कोई नहीं था। मुझे लगा कि मैं जिस तरह सीधी-सादी रहती हूं, कहीं इसी कारण तो मेरा यह पहला-पहला प्यार नष्ट नहीं हो रहा। तब मैंने अपने बालों में फूल लगाने की कोशिश की, लेकिन इसपर भी उसने सिर्फ इतना ही कहा था, "इन सब बातों में समय नष्ट न किया करो, मार्क्स और एंजिल्स पढ़ा करो।"

१७

एक सुबह संन्यासी तो चला, रह गई सिर्फ अफीम की गंध

एक दिन दोपहर के भोजन से एक घण्टा पहले की बात है कि हमारे दरवाजे की घण्टी बजी। नौकरानी ने बढ़कर दरवाजा खोला तो भीतर आ घुसा एक भिखारी। बूढ़ा आदमी था। धूल-धूसरित। उसे देखते ही हमारा रसोइया भड़क पड़ा, "निकल जाओ यहां से, संन्यासी-वंन्यासी नहीं चाहिए यहां। भीख चाहिए तो बाहर खड़े होकर मांगो। चले आते हैं बड़े संन्यासी बने भिखमंगे कहीं के! पाखंडी! हुंह!"

उस बूढ़े के दंतविहीन मुंह पर पोपली मुस्कान फैल गई और उसने अपनी पोटली उतारकर नीचे रख दी। बोला, "मैं भिखारी नहीं हूं," वह मलयाली भाषा में बोल रहा था, "मैं एक इज्जतदार घर का आदमी हूं, उत्तर मालाबार का हूं। पिछले चालीस साल से यात्री हूं। सारे तीर्थ घूम आया हूं—काशी, रामेश्वरम्, हरिद्वार, पुरी, केदारनाथ, बद्रीनाथ…।"

हमने अपनी नौकरानी को एक गिलास मट्ठा लाने को कहा। मेरी माताजी उस यात्री से मिलने नीचे आई। वह बोला, "मेरा नाम पथियार है।" हमारा रसोइया उसके पास खड़ा-खड़ा बड़बड़ा रहा था। किसीने उसकी ओर ध्यान नहीं दिया।

संन्यासी जिस तरह धीरे-धीरे बोल रहा था, उससे हम लोग प्रभावित हुए थे। वह मेरी माताजी से कह रहा था, "मैं सारे सांसारिक सुखों से ऊब गया हूं। हालांकि मेरी उम्र कोई खास नहीं थी। बस, यही चालीस-पैंतालीस

छाड़कर—वृद्ध की तरह शांति की तलाश में। और आज मैं अट्ठासी साल का हू थक गया हूं भटक-भटककर। इजाज़त दें तो एक दिन के लिए दम ले लूं यह ताकि कुछ वल पा जाऊं आगे बढ़ने को। पुरी जाना है मुझे।"

"हां, हां, आप रहिए ना!" मैं चिल्ला-सी पड़ी थी। माताजी के चेहरे क देखकर भांप जो गई थी कि वह अतिथि-सत्कार को तैयार लग रही हैं।

तभी रसोइया बड़बड़ाया, "देख लो बिटिया, बाद में न कहना कि पहले नहीं बताया। मैं ऐसे पाखंडियों को अच्छी तरह जानता हूं।" इसपर वृ मुस्कराया। बोला, "घबराओ नहीं बच्चे, मैं किसीपर बोझ नहीं बनूंगा।"

पिताजी की इजाज़त लेकर हमने उसे अपने यहां ठहरा लिया। सीढ़ियों तले की बुखारी में उसे ठहराया। उसने अपनी पोटली खोलकर अपना सामान फैलाया। सामान ही क्या था—एक चकचोल, दो काले सालिग्राम, एक घंटी एक धूपदान और एक नारियल का हुक्का।

"इस हुक्के से पूजा करते हो बाबा!" रसोइये ने व्यंग्य किया। हमारी नौकरानी को अपने पति का यह व्यवहार अच्छा नहीं लगा। वह तो उस वृद्ध की कहानियों पर मुग्ध थी। कलकत्ता में कोई ऐसा मिल जाए, जिससे वह अपनी भाषा में बात कर सके, यह उसके लिए वरदान था।

वह अक्सर उससे कहा करती, "बाबा, मेरा हाथ देखो न।" संन्यासियों को हमारे यहां ज्योतिषी भी मान लिया जाता है। उसकी गुलगुली हथेलियों पर प्यार से हाथ फिराता हुआ वृद्ध बोला, "चौकस रहना बच्चा, कोई जो तेरे बहुत करीब है न, वह एकदम सांप की तरह है। बस, धोखा दे जाएगा तुझे एक दिन। वह तो तेरे सोने के हार और बुंदों के पीछे पड़ा है।"

"कौन है वह दुष्ट?" वह बोली।

"यह भी मुझे ही बताना होगा बच्चा?"

उसकी निराशाजनक भविष्यवाणियों से वह बेचारी तो पगला-सी चली थी। अक्सर रात को पति से झगड़ती, उसके प्यार पर संदेह करती और हर सुबह रसोइया बेचारा हमें नाश्ता देते समय पूछता, "यह बुड्ढा इस घर से कभी टलेगा कि नहीं?"

इसी तरह एक सप्ताह सरक गया। संन्यासी अभी तक हमारे यहां टिका हुआ था। उसका स्वास्थ्य तेज़ी से सुधर रहा था। हर समय वह खुश रहता। शाम को जब मैं स्कूल से लौटकर आती तो वह मुझे गंदे-गंदे गाने सुनाता। समझ में तो मेरी कुछ न आता, लेकिन गाने की लय-सुर मुझे अच्छी लगती।

एक सुबह मेरे पिताजी नाश्ते के लिए सीढ़ियां उतर रहे थे तो उनकी नाक में उस वृद्ध के हुक्के की गंध पड़ी।

"क्या यह अभी तक यहीं है?" पिताजी ने पूछा।

"हां," माताजी ने मरे-से स्वर में कहा।

"तो इससे कह दो कि आज दोपहर का खाना खाते ही चला जाए। हमेशा के लिए तो किसीको रख नहीं सकते।"

पिताजी जब चले गए तो वृद्ध ने मुझे एक ओर बुलाकर कहा, "पिताजी चाहते हैं कि मैं चला जाऊं; पर मुझे जाने क्यों तुम लोगों से स्नेह हो गया है।" कहते ही वह रोने लगा। मैं भी रो दी। नौकरानी की आंखें भी पड़ने लगा। भयानक दृश्य था। आखिर माताजी ने वादा किया कि वह पिताजी को कह-सुनकर मना लेंगी कि अभी यह बेचारा यात्रा के योग्य नहीं

संन्यासी के हमारे यहां रहते समय मुझे पहली दफा यह लगा था कि हूं। वह हमारे मुसलमान ड्राइवर के भी खिलाफ था। वह अपनी हुक्की गुड़ हुआ कहता, "मुसलमानों का कोई विश्वास नहीं।"

मैं पूछती, "क्यों नहीं?"

उन दिनों मेरी कई मुसलमान सहेलियां थीं। हमारे आंगों के डॉक्टर नाम भी अहमद था, जो मुझे बहुत हंसाता करता। हमारा ड्राइवर मुरर्फ बहुत प्यारा आदमी था।

"मेरी बात याद रखना बच्चे," वृद्ध कहता, "बहुत जल्द खून-खराबा ये मुसलमान हिन्दू लड़कियों की इज्जत लूटेंगे और हिन्दुओं के बेटों को डालेंगे।" मैं उसकी बातें सुन-सुनकर हैरान होती। हमारी नौकरानी के पड़ने लग गए, और रसोइया कहता, "यह बुड्ढा पाखंडी है, कोई संत-वंत जो किसी दूसरी कौम को नफरत कर सकता है, वह संत कैसे हो सकता है फिर यह तो हुक्के में अफीम गुड़गुड़ाता है।"

और फिर सुबह हमारे सोकर उठने से पहले ही वह जा चुका था। न चरणोदक दिखाई दी, न धूपदान, न घड़ी और न हुक्का ही। रह गई थी सीढ़ियों तले की कुठरी में अफीम की गंध। रसोइया बोला, "भाग गया न की तरह!"

"वह तो भगवान की तरह अंतर्धान हो गया है।" नौकरानी ने कहा।

मैं जब स्कूल से लौटी तो मुझे धर्म और उसके कुकर्मों के बारे में बताने कोई नहीं रह गया था।

यह बात है सन् १९४७ के शुरू-शुरू की। कलकत्ता में दंगे भड़क उठे स्कूल में अफवाह फैली कि औनाद नामक हमारे चपरासी पर हिन्दू चढ़ आ लेकिन हमारी एक अध्यापिका ने उसे अपनी खाट तले छिपा दिया था।

शुक्रवार की शाम को साढ़े पांच बजे मैं अपनी आंखें दिखाने डॉक्टर के यहां गई तो पता चला कि डॉक्टर को तो कल ही हिन्दुओं ने काटकर कूड़े में फेंक दी।

दंगई लोग शाम को जुलूस निकालते। हाथों में हथियार और मु धार्मिक नारे।

स्कूल बंद। दुकानें बंद। दोनों वक्त हमें दाल-भात खाना पड़ रहा

सब्जियों और मांस को तरस गए। अपने घर मालाबार भी तो नहीं जा सकते थे हम। यातायात ठप्प पड़ा था। नानी को खत तक न लिख पाते। डाक-व्यवस्था ही कहां रह गई थी! एक बार एक लारी दिखाई पड़ी थी, सो उसपर भी हंसते हुए सिख दंगई, जिन्होंने एक भाले की नोक पर एक बूढ़ी औरत की पीली लाश टांग रखी थी।

अब मुरफीद की जगह हमारी कार का ड्राइवर था नरेश। खासा चलता-पुर्ज़ा था। दोनों तरह के भेस भर लेता था। मुसलमानों की रूमी टोपी भी रखे रहता और हिन्दुओं की पगड़ी भी। जब जैसी जिसकी ज़रूरत होती, पहन लेता। पार्क सर्कस के इलाके में जाना होता तो रूमी टोपी लगा लेता, हिन्दू इलाकों से गुज़रता तो पगड़ी धर लेता।

हमने मकान भी बदल लिया था, दक्षिणी कलकत्ता में लेक एवेन्यु पर। घर छोटा था। हमें वहां गए एक सप्ताह ही हुआ था कि शाम के आठ बजे के करीब बड़ा भारी शोर हमारे घर की ओर बढ़ता हुआ सुनाई दिया। जुलूस के नारों का शोर था। 'अल्लाहो अकबर' चिघाड़ रहे थे। हमारा मकान-मालिक डॉक्टर था। साठ से ऊपर का रहा होगा। झट से अपनी राइफल उठा लाया और अपने जवान बेटे को थमाकर गेट पर चौकस तैनात कर दिया। मेरे पिताजी के पास तो सिर्फ छड़ी थी, सो वह छड़ी ठकठकाते हुए गेट तक साथ गए। मकान-भर की औरतें ऊपरी तल्ले के कमरे में जुटकर सुबकने लगी थीं; लेकिन मुझे जाने क्यों बड़ा जोश आ रहा था उस समय। मैं उस वक्त अपने मकान-मालिक के दूसरे बेटे के साथ सीढ़ियों पर बैठकर बतियाने लगी थी। हमारी बातचीत का विषय था कि चीन में किस ढंग से टॉर्चर किया जाता है।

दंगइयों की भीड़ हमारी गली में पहुंचने से पहले ही तितर-बितर कर दी गई थी और हम अपने-अपने कमरों में जाकर सो गए—खून-खराबे और धर्म की बातें सोचते-सोचते।

१८

क्या हर विवाहित वयस्क बिस्तर पर विदूषक बन जाता है या फिर सरकस का जानवर?

कलकत्ता में हमारा लेक एवेन्यु वाला फ्लैट छोटा-सा था। सिर्फ दो बेडरूम, एक छोटी बैठक, पिछवाड़े एक खुला रास्ता और डाइनिंग रूम तथा स्थानी में किचन आदि।

पहली मंजिल पर मकान-मालिक, उसकी पत्नी और दो बेटे। हमारे बैठक-घर के प्रवेश द्वार के बाहर चार चौड़ी सीढ़ियां थीं—नकली संगमरमर की। शाम को हम अपने आस-पड़ोस के मित्रों के साथ उन सीढ़ियों पर बैठ जाया करते। सामने बगीचा था, और हम बैठे-बैठे बगीचे में तका करते। बगीचे की बाड़ें खूब तराशी हुई रहतीं और मौसमी फूल खिले रहते।

बगीचे में सिर्फ एक ही बेंत की कुर्सी पड़ी रहती। लगभग हर समय मकान-मालिक ही उसे घेरे रहता। खासा आकर्षक व्यक्तित्व था उसका। हर सुबह नाश्ते के बाद वह पाइप पिया करता। नाश्ता वह अकेला ही करता—हमारे गलियारे के पास वाले अपने निजी कमरे में।

वह एकान्तप्रिय आदमी था। उसकी पत्नी को हिस्टीरिया के दौरे पड़ा करते—महीने में दो-एक बार। दौरा पड़ने पर वह अपने पति को बंगाली में गालियां बकती और बार-बार पूछती रहती, 'बोल, कहां छिपा रखा है उस छिनाल गोरी रखैल को?" ऐसे में उनके दोनों बेटे शर्म से पानी-पानी हो घर से निकल जाते और फिर घंटों बाद लौटते। तब तक उनकी मां ठंडी पड़ चुकी होती। डॉक्टर यानी हमारा मकान-मालिक उसकी चीख-चिल्लाहट पर कोई ध्यान न

देता, चुपचाप बगीचे में बैठा पाइप फूंकता रहता। अगर किसी दिन ऐसे में डॉक्टर अपने दवाखाने गया होता तो डॉक्टर की पत्नी अपने ड्राइवर के सिर हो जाती, "बता, कहां है तेरे मालिक की रखैल ? तू ही तो ले जाता है उसे वहां—सप्ताह में कई-कई बार। तुझे जरूर पता है उसका ठिकाना।"

हमारे यहां बहुत कम मेहमान आते, सिर्फ दो पति-पत्नी अक्सर आया करते। श्री और श्रीमती पनिक्कर हमारे माता-पिता के मित्र थे, भले ही वे उम्र में कई बरस छोटे थे। दूसरे थे श्री एवं श्रीमती कुन्हप्पा। श्रीमती बेहद सुंदर थीं। बड़ी ही फैशनेबल भी। एक दिन जब वह गहरे भूरे रंग की बिंदनियों वाली साड़ी पहनकर हमारे यहां आईं तो बस मैं तो उन्हें देखती ही रह गई थी। उफ ! किस कदर हसीन लग रही थीं वह !

क्रीम में खीरे का रस मिलाकर वह हर दोपहर बाद अपने चेहरे पर मला करतीं ताकि चिकना-चमकदार चेहरा और अधिक निखरा रहे। मेरे साथ वह बहुत खुली हुई थीं। मेरे हर खुले सवाल का जवाब भी खुलकर दिया करतीं, हालांकि जो कुछ भी वह कहा करतीं, मुझे उन दिनों अविश्वसनीय लगता। तब मैं एक क्षण के लिए भी यह मान नहीं सकती थी कि ये जो इतने-इतने इज्ज़तदार लोग हमारे यहां आकर राजनीति और साहित्य पर लंबी-चौड़ी हांकते रहते हैं, रात को अपने-अपने बिस्तरों पर सेक्स का चरम आनन्द पाने के लिए ऐसी-ऐसी कलंदरी हरकतें भी कर सकते हैं। श्रीमती कुन्हप्पा की बातें सुन-सुनकर मैं अविश्वास में हंस दिया करती। सोचती कि क्या हर विवाहित व्यस्क संभोग के समय विदूषक या सरकस का जोकर बन जाता है ? मैं उनसे कहा करती, "मुझे शादी से नफरत है। मैं किसीके सामने नंगी नहीं हो सकती।"

उन दिनों मैं चौदह साल की थी। पिताजी ने मेरे लिए एक ड्राइंग-ट्यूटर लगा दिया था। उन्तीस साल का था वह। लंबा-सा, पीला-सा, ढीला-ढाला बंगाली धोती-कुर्ता पहनता। पहले ही दिन उसने मुझे 'कला लक्ष्मी' का चित्र बनाने को कहा। इस देवी का नाम का उच्चारण वह 'कोला लोक्खी' कहकर किया करता। मेरे बनाए चित्रों की तारीफ करते हुए कहता, "अरे ! तुम्हारा तो हाथ बहुत साफ है।" हर बुधवार की शाम को वह आया करता, और मैं उसके लिए चाय लाने रसोइये से नहीं कहती, बल्कि खुद लेकर जाती। चाय के साथ इडली, बड़े और तले हुए केले भी ले जाती। वह बड़ी इज्ज़त से मेरे साथ पेश आता और मुझे लगता कि मैं वयस्क हो गई हूं। जब भी वह मेरे बनाए हुए किसी चित्र को अपनी उंगलियों से छू रहा होता तो उसके कानों की लवें गुलाबी हो जातीं।

मैंने लाल किनारे वाली साड़ी उन्हीं दिनों खरीदी थी। ठीक वैसी ही, जैसी कि बंगाल की देहाती औरतें पहनती हैं। शायद मैं यह साड़ी इसलिए पहनने लगी थी कि मेरा लड़कों जैसा जिस्म लुका-छिपा रह सके। लगता है, मैं उन दिनों बहुत उतावली थी कि जल्दी से जवान हो जाऊं। मैं अपने बालों को कुछ इस ढंग से

झटका दिया करती, गोया किसी सांप को मारने के लिए झपट रही हूं। उन दिनों मैं काफी-काफी देर तक आईने के सामने अपने-आपको निहारती रहती। मेरे माता-पिता को मेरे व्यवहार में यह परिवर्तन चौंकाने लगा था, मगर मुझे उन दिनों लगा करता कि मैं जो कुछ भी बनाव शृंगार कर रही हूं, वह सिर्फ अपने ट्यूटर के लिए कर रही हूं, साड़ी भी उन्हीं के लिए पहन रही हूं। जबकि उसके लिए चाय की ट्रे ले जाते समय मेरी साड़ी ठिठक-ठिठक जाया करती। इसीलिए मेरी यह ट्यूशन बंद कर दी गई। पिताजी ने मेरे ट्यूटर से कह दिया था, "इसके इम्तहान करीब आ रहे हैं न। सो इसे पूरा समय मन लगाकर पढ़ना होगा।" और मेरा वह ट्यूटर स्वीकार में सिर हिलाता हुआ चला गया था।

जब वह नमस्कार कर विदा हो लिया तो मुझे एहसास हुआ कि अरे, मैं तो उसे प्यार करती थी! रात को बिस्तर पर लेटे-लेटे भी मुझे उसीका ध्यान आता रहा। वही चेहरा मेरी आंखों के सामने तैरता रहा। उसके कानों की लवों की लाली याद आती रही। कितनी मूर्ख थी मैं कि उसे चूमना चाहकर भी चूम न सकी थी कभी। सोचा कि श्रीमती कुन्हप्पा के पास जाकर उनसे सलाह लूं कि मुझे ऐसे में क्या करना चाहिए; पर डरती थी कि वह मेरे इस प्यार की खिल्ली न उड़ा दें कहीं। फिर मैंने अपने से छोटी उम्र की सहेली की राय मांगी तो वह बेझिझक होकर कहने लगी, "उसके लिए तुम्हारे मन में जो कुछ भी है, साफ-साफ क्यों नहीं कह देती उसे! बिलकुल कह देना चाहिए तुम्हें। उसके पास चली जाओ। बस में मैं बैठा आती हूं तुम्हें। चलो।" और वह वाकई मुझे बस में बैठा भी आई थी।

मैं घबरा रही थी। दिल धड़क रहा था मेरा। पसीने छूट रहे थे। बस में बैठ गई तो मुझे पता चला कि मेरे पास तो घर लौटने को पैसे भी नहीं हैं। मुझे रोना आ गया। बड़ी मुश्किल से आंसू थामे थे मैंने। बस रुकते ही मैं कूदकर उतर पड़ी। उसके यहां गई। उसके कमरे तक पहुंचने से पहले आंगन पार करना था, बीच आंगन में भगवान की मूर्ति थी। मूर्ति तक पहुंचने से पहले ही बारिश आ गई।

बंगाल में बारिश का कुछ भरोसा नहीं कि कब आ जाए। कोई आसार नहीं, कुछ नहीं, बस एकदम से झमझम शुरू। हिस्टीरिया रोगी औरत की तरह, जो खुद नहीं जान पाती कि क्यों फूट पड़ी है। एक ही मिनट में मैं भीग गई। मैंने मूर्ति के चेहरे तले अपना सिर झुकाकर बौछार से बचने की कोशिश की, पर बेकार रहा। मैं उस मूर्ति वाले भगवान का नाम नहीं जानती थी। सदियों की बारिशों ने उस मूर्ति का चेहरा सुराखों से भर डाला था, लेकिन उसका मुंह था बहुत ही सुंदर और मुस्कान बिखेरता हुआ। दो-एक पल तक मैं उसीसे लिपटी रही। फिर मुझे वह मुंह याद आ गया, जिसे मैं घंटों से देखने को तरस रही थी। भाग पड़ी उसके कमरे की ओर। धड़ाक् से दरवाजा खोलकर भीतर जा घुसी थी। वह उसके दफ्तर का कमरा था।

वह बैठा काम कर रहा था। उसके सामने मेज पर कुछ फाइलें पड़ी हुई थीं। मेरे भीतर घुसने के शोर से उसका ध्यान भंग हुआ। नजरें उठीं, "ओ, तुम !" अनायास उसके मुंह से सरक गया। वारिश ने आंगन की सारी धूल उसके कमरे में बुहार फेंकी थी। उसने उठकर दरवाजा बंद कर दिया और मैं उससे लिपटकर फफक पड़ी—अवश हुई।

"तुम भीग गई हो। गीले कपड़े उतार डालो।" कहते ही उसने दोनों हाथों से मेरा ब्लाउज ऊपर खींचकर मेरे सिर पर से उतार दिया और फिर खिड़की के बाहर हाथ कर ब्लाउज निचोड़ने लगा। ब्लाउज उतारते समय उसकी उंगलियों की छुअन मुझे अपनी जिल्द पर गरम-गरम लगी थी। ब्लाउज निचोड़ने के बाद उसने हाथ पोंछने वाले तौलिये से मेरे गीले बाल सुखाए और फिर ब्लाउज सुखाकर अपने हाथों से मुझे पहना भी दिया था। और उसके बाद कुछ और कहे बिना वह मुझे टैक्सी में बैठाकर मेरे घर छोड़ने चल पड़ा। घर के सामने पहुंचे तो वह मुझे दरवाजे तक छोड़ने गया। मुझसे हाथ मिलाया।

"अंदर नहीं चलोगे ?" मैंने पूछा।

"नहीं, आज नहीं।" उसने कहा।

लेकिन वही आखिरी मुलाकात थी मेरी-उसकी। पर कभी-कभार मुझे याद आ जाती है वह स्थिति कि कैसे कोमल-कोमल हाथों से उसने मेरा ब्लाउज उतारा था और मेरा गीला शरीर सुखाया था।

लेकिन उसने मुझे तब चूमा क्यों नहीं था ? मुझे प्यार क्यों नहीं किया था ? जवानी की पहली सीढ़ी पर चढ़कर जब मैं उसके पास गई तो उसने मुझे निराश क्यों कर दिया था ? ये सारे सवाल मैंने अपनी एक सहेली से किए थे। वह बोली थी, "तुमने उसे कहा ही कब था कि मैं प्यार करती हूं तुम्हें। कोई भी पुरुष तभी किसी स्त्री को चूमता है, जब उसे पता चल जाए कि वह उसे प्यार करती है। अरी, तुझे तो प्यार का ऐसा सुनहरी अवसर मिला, पर तूने खो दिया ! रो-रो के खो दिया। मूर्खता ही तो थी तेरी।"

१९

अजीब थी उसकी आवाज़...आसान था उसके प्यार में उलझ जाना

मेरी एक अध्यापिका ने एक बार मुझे अपने घर खाने पर बुलाया। हरीश मुखर्जी रोड पर उनका घर था। मुझे वह बड़ी प्यारी लगती थी। मैं मना न कर सकी। हालांकि पिताजी को यह बात कोई खास पसंद न थी कि मैं अकेली किसीके घर जाऊं।

जब मैं वहां पहुंची तो मेरी अध्यापिका ने मेरे हाथ अपने हाथों में लेकर कहा, "मेरे पति आज सुबह अचानक बीमार पड़ गए। मैं तुम्हें खबर भी तो नहीं कर सकी कि आज न आना। जो हो, मेरा बेटा तुम्हें किसी रेस्तरां में ले जाएगा लंच के लिए।"

उनके बेटे की उम्र अठारह साल थी। जब-जब भी मैं उनके यहां गई थी तो उसने मुझे प्यानो बजाकर सुनाया था। वह मझोले कद का लड़का था, लेकिन चेहरे से पूरा मर्द लगता था। माथे पर गहरी सलवटें और चौड़ा मुंह।

उस दिन मैं उसके साथ लंच खाने 'फ्लेटीज़' नामक रेस्तरां में गई थी। हम लोग बारजे में बैठे थे। वहां के कुछ वेटर मुझे पहचानते थे। कई बार मैं अपने पिताजी और उनके मित्रों के साथ वहां जा चुकी थी। अब मुझे उस लड़के के साथ खाना खाने आई देखकर वेटर हमारी टेबल पर लपक-लपक आ रहे थे। रेस्तरां में गिटार बजाने वाला भी बीच-बीच में हमपर नजर फेंक देता। मेरे साथी लड़के ने अपना हाथ मेरे हाथ पर धर दिया और होंठे से कहा, "यह तर्ज पहचानी?" मैं नहीं बता सकी। अपने परिवार की सांस्कृतिक अज्ञानता के कारण

ही में अज्ञान रह गई थी। कटकर रह गई उस समय। हालांकि मेरी मां कवयित्री थीं और खासी प्रसिद्ध थीं, परन्तु हमारे यहां आने वाले लोगों में से शायद ही कभी कोई ऐसा होता, जो कला और साहित्य पर ढंग से बात कर पाता। हमारे माता-पिता को तो संगीत तक से भी लगाव न था।

मुझे उस समय उस लड़के के सामने बड़ा ही अटपटा लग रहा था। आखिर उसीने बताया, "यह बारट की तर्ज़ है।" इसपर मैं अपने हाथों से अपना चेहरा ढककर फफक पड़ी थी।

"अरे! क्या हुआ?" उसने पूछा।

गिटार वाले ने भी गिटार बजाना रोक दिया।

"मैंने तो कोई ऐसी बात नहीं कही कमला!"

मैंने नकार में अपनी गर्दन हिला दी।

"तो फिर चुप कर जाओ। सूप पियो। ठंडा हुआ जा रहा है।"

और फिर खाना खाते-खाते मैंने उसे बताया कि मेरा संगीत का ज्ञान बहुत कम है।

वह बोला, "मेरी तो जान है संगीत।"

फिर उसने अपना रूमाल निकालकर मेरी ओर बढ़ाते हुए कहा, "आंखें पोंछ लो। रो-रोके आंखें ही सुजा ली हैं तुमने तो। मेरी माताजी देखेंगी तो क्या समझेंगी!"

जब मैं घर लौटी तो मैंने अपनी मां से कुछ नहीं बताया कि वहां क्या हुआ, कैसे हुआ और मैंने खाना कहां खाया। मेरी मां कभी कुछ पूछती-पाछती भी नहीं थीं। पिताजी भी लगभग ऐसे ही थे। गोया किसी बात से कोई सरोकार ही न हो। वे दोनों हमारे बारे में यह मानकर चलते थे कि सब ठीक-ठाक चल रहा है। हमें तो वे अपने हाथों की कठपुतलियां समझते थे। जैसे चाहा, नचा दिया। कभी एक पल को भी उन्होंने यह नहीं सोचा था कि आखिर हमारा भी कोई व्यक्तित्व है, जो स्वतंत्र रूप से विकसित हो रहा है।

हमारी अंग्रेजी की ऑस्ट्रियन अध्यापिका अपने परिवार के साथ अपने देश लौट गई तो उनकी जगह एक बंगाली महिला आई थी। उसका चेहरा लम्बूतरा था। हमें पढ़ाते समय उसका हाथ बार-बार अपने कंधों पर साड़ी का पल्लू ठीक करने को उठ जाता। कुछ अजीब-सी आवाज़ थी उसकी। बीच में ही टूट-टूट जाता उसका स्वर बड़ा प्यारा लगता मुझे। सहज ही उसके प्रति बड़ा प्यार उमड़ आता मेरे मन में। उन दिनों शायद मेरी उम्र ही ऐसी थी कि मैं अपना सारा प्यार उड़ेल देना चाहती थी। पर था ही नहीं कोई लेने वाला। उन्हीं दिनों मैंने एक कविता लिखी थी अपनी उसी अध्यापिका को सम्बोधित कर। गुलाब से तुलना की थी उसकी। मैं भी तो एक फूल ही थी उन दिनों। कितना अटपटा लगता है एक फूल का दूसरे फूल के प्रति आकर्षित हो जाना! और शायद नासक भी। एक दोपहर बाद मैं चाय पीने उनके कमरे में गई तो उसने कहा, "तुम्हारी कविता मुझे

बहुत अच्छी लगी।" यह सुनकर मैं लजा गई। मुझे लगा कि मेरा चेहरा लाल हो गया है। मैंने कहा, "मैं एक महीने के लिए अपने घर मालाबार जा रही हूं। वहां से आपको चिट्ठी लिखूंगी।"

उन्हीं दिनों मेरी माताजी को टाइफाइड हो गया। महीने-भर तक होम्योपैथिक इलाज चला, लेकिन कुछ फर्क न पड़ा। वे बेहोश हो गईं। तब उनकी जान बचाने को डॉ० टेनहैम वाइट को बुलाया गया। माताजी लगभग एक महीने तक गुम-सुम सोई पड़ी रहीं। मैं स्कूल से लौटकर उनके कमरे में जाया करती। वह एक ज़िन्दा लाश की तरह पड़ी मिलतीं। पिताजी भी उनके सदमे में बीमार हो गए तो पिताजी की खाट ड्राइंगरूम में बिछानी पड़ी, क्योंकि हमारे तीसरे कमरे में मेरी सबसे छोटी बहन का बिस्तर लगा हुआ था। वह अभी बच्ची ही थी। उन दिनों क्लोरो-माइसीन तो थी नहीं, जो टाइफाइड का इलाज हो पाता। हम सिर्फ भगवान से प्रार्थना ही कर सकते थे।

उन्हीं दिनों मेरे माता-पिता की एक मित्र एक दिन एक सूटकेस लेकर हमारे यहां आ पहुंचीं, उनका नाम था जानकी अम्मा। हमारे माता-पिता के ठीक होने तक वे हमारी देखभाल करने आई थीं। वे वीमेन्स कॉलिज में प्रोफेसर थीं। उतनी जीवन्त और चुस्त महिला मैंने उससे पहले कभी नहीं देखी थी। उनकी हंसी ही लोगों को आकर्षित कर लिया करती। बड़ा ही चुम्बकीय व्यक्तित्व था उनका। आज भी जब मैं उन दिनों को याद करती हूं तो बड़ा अजीब-सा लगता है। माता जी तो गुम-सुम सोई पड़ी हैं, पिताजी चारपाई में बच्चों की तरह सो रहे हैं, जानकी अम्मा फुर्ती से घर का सारा काम-काज संभाले हुए हैं, सोने से पहले माताजी के पांवों में वरुटीकोला मरहम लगाना भी नहीं भूलतीं। अपने बिस्तर पर लेटी-लेटी जब वह कोई किताब पढ़ रही होतीं तो मैं उनकी छाती पर सिर रखकर लेट जाया करती। तभी वह मुझे छेड़ने लगतीं। कहतीं, "मैं तुम्हारी उस अध्यापिका से मिलना चाहती हूं, जिसपर तुमने कविता लिखी है। इतनी मोहित हो तुम उसपर?"

"किसी दिन मैं उनसे मिलवाऊंगी, पर उन्हें देखकर हंसिएगा नहीं।"

फिर जब माताजी ठीक हुईं और उसके बाद पिताजी भी स्वस्थ हुए तो माताजी आराम के लिए मालाबार चली गईं। साथ में छोटी बच्ची और मेरे भाई को भी लेती गईं। मेरा बड़ा भाई डॉक्टरी पढ़ने के लिए मद्रास चला गया था। मैं कलकत्ते में पिताजी के साथ अकेली रह गई थी। हमारे अलावा घर में दो नौकर और एक मेरे चाचाजी थे। उन दिनों मैंने बेहद अकेलापन महसूस किया। किसीसे मैं कोई राय नहीं ले सकती थी। मेरी किसीको चिन्ता नहीं थी। मैं चाहे जो करती रहती। सिर्फ इतना ही हुक्म था कि छः बजे से पहले मैं घर पहुंच जाया करूं, क्योंकि उस समय पिताजी दफ्तर से घर लौटा करते। पिताजी हर शाम चाय पीकर सैर पर घूमने निकल जाया करते या किसी मित्र के यहां चले जाते। रसोइया या तो अपने दोस्तों से गप्पें लड़ाता रहता या फिर नौकरानी -

से इश्क फरमाता रहता। अपने कमरे के सिवाय घर के किसी भी कमरे में जाना मुझे अटपटा लगा करता। अपने छोटे-से बिस्तर पर किताबों के बीच पड़ी-पड़ी मैं सो जाया करती; और मेरी नींद भी कुछ ऐसी थी उन दिनों कि चम्मच खड़कने की आवाज से ही टूट जाया करती।

उन दिनों मुझे पढ़ाई में भी कोई रुचि नहीं रह गई थी। हर सुबह मैं अपने-आपको समझाया करती कि मुझे इस बोरियत से उभरना है, ऐसे जीवन से छुटकारा पाना है, कुछ और तरह का जीवन जीना है, किसी और देश में जाना है। पर मैं अपना घर छोड़कर कहीं नहीं जा पाई। अपने घर के द्वार पर खड़ी-खड़ी बाहर निहारती रहती। कलकत्ता की लेक एवेन्यू की वह गली शायद सबसे एकांत गली थी। शायद ही कोई उधर से गुज़रता हो। दो-एक बार मैंने एक चीनी को वहां से गुज़रते ज़रूर देखा था। साइकल पर बड़ा-सा गट्ठर लादे हुए आता। एक बार मैंने उसे बुला लिया कि देखूं क्या बेचता है यह। मेरे पास कोई पैसे-वैसे तो थे नहीं। उसने अपना गट्ठर खोलकर नाइटीज़ फैला दी थीं।

एक दिन एक जार्जेट की साड़ियां बेचने वाला आया और लगभग एक घंटे तक सिंध के बारे में मुझे बताता रहा। उसने अपना नाम भी बताया था। लोकूमल था शायद।

एक सोनपरी (पतीसा) बेचने वाला भी वहां आया करता था। वह मेरी ओर देख-देख मुस्कराया करता। बंगला में वो मुझसे पूछता, "मिठाइयां नहीं खाती क्या?" फिर वह मुस्कराकर चल दिया करता। मेरे पड़ोसियों की छोटी बेटी उससे पतीसा खरीदकर खाया करती।

वह अक्सर मुझे कहा करती, "मैं जब बड़ी हो जाऊंगी ना तो फिलमस्टार बनूंगी।" उसकी मां अक्सर हमारे यहां दिन के समय आकर अपने प्रेमी को फोन किया करती। उस समय हम घर पर नहीं होते। हमारा रसोइया सुनता रहता, लेकिन ऐसा प्रकट करता कि वह अंग्रेज़ी नहीं जानता। एक दिन उसीने मुझे कहा, "वह बड़ी बदमाश औरत है, उससे बात मत किया करो। मुझे तुम्हारी निगरानी सौंपी गई है। मैं अपनी ड्यूटी तो निभाऊंगा ही।"

२०

वह मुझे भींचे पड़ी रहा करती

माताजी की एक सहेली ने मुझे चेतावनी दे रखी थी कि मैं उस लड़की से न मिला करूं। अठारह साल की लड़की थी वो। कॉलेज के होस्टल में रहा करती थी। एक दिन माताजी अपनी प्रोफेसर सहेलियों से मिलने वहां गईं तो मुझे भी साथ ले गईं। वहां मुझे वह लड़की मिल गई तो मैं देखते ही उसकी तरफ खिंच गई।

वह अपने कमरे की देहलीज पर खड़ी मुस्करा रही थी। उसके दायें गाल में गड्ढा पड़ रहा था। कद लम्बा था और जिस्म मजबूत—मर्दाना-सा। मुझे देखते ही बोली, "हलो!" मेरा मन हुआ कि माताजी को छोड़कर उसके कमरे में चली जाऊं और उससे दोस्ती कर लूं, पर जाने क्यों मैं जा न सकी थी।

शायद मैं माताजी की उस प्रोफेसर सहेली को नाराज नहीं करना चाहती थी, जिसने मुझे उस लड़की से मिलने को मना किया था; मगर मुझे वह भा गई थी, क्योंकि वह और लड़कियों से हटके थी। वह मेरी तरफ देखती तो मुझे लगता कि मैं सम्मोहित हुई जा रही हूं। अजीब-सा जोश आ जाता मुझमें। कांसे-सी चमक थी उसकी जिल्द पर—धूप खाई-सी। गोया कोई पशु मौसमों के थपेड़े सह-सहकर, धूप और बारिश की मार खा-खाकर पला हो।

फिर जब माताजी को मालाबार गए भी साल-भर बीत चुका था तो गर्मियों की छुट्टियों में पिताजी ने मुझे वहां भिजवाने के लिए मेरी प्रोफेसरों और छात्राओं के साथ रवाना कर दिया। गाड़ी में हमारी दस बर्थ रिजर्व थीं। मुझे सबसे लम्बी

बर्थ मिली थी, जबकि मैं उम्र में उन सबसे छोटी भी थी और नाटी भी।

किस्मत की बात कि वह लड़की भी हमारे साथ थी। वही अठारह वर्ष की युवती, जिसके प्रति मैं आकर्षित थी। हमारे डिब्बे की बत्तियां जब बुझा दी गईं और खिड़कियों की राह बाहर से आ रही चांदनी में जब यह पता चल गया कि बाकी सबकी टांगें सीधी हो गई हैं और सब लोग सो गए हैं तो वह चुपके से मेरे पास सरक आई, हौले से बोली, "तुम्हारे पास सो जाऊं ? ऊपर की बर्थ पर अच्छा नहीं लगता।" कहकर पहले तो उसने इधर-उधर ताका कि कोई जाग तो नहीं रहा। फिर मेरे पास लेट गई और मुझे भींच लिया। उसका हाथ हौले-हौले मेरे चेहरे पर फिरता रहा और उसके होंठ मेरे होंठों पर दबते रहे और वह फुसफुसाती रही, "कितनी प्यारी है री तू ! तेरे जैसी तो आज तक नहीं देखी। ओफ ! मेरी प्यारी-सी नन्ही-सी गुड़िया !"

मेरे जीवन में इस तरह का पहला चुम्बन था, जो मुझे निहाल कर गया। मेरी नसें रसमसा उठीं। सांस तक रुकती हुई लग रही थी। उसका हाथ मेरे बालों में फिर रहा था और उसके होंठ मेरे चेहरे और गले को चूमते चले जा रहे थे। रात-भर यही सब चलता रहा और मेरा शरीर तपता रहा। भोर हुई तो वह बोली, "अरे, तेरा जिस्म तो तप रहा है री !"

सुबह को हमारी गाड़ी गोलंगोड़ स्टेशन पर रुकी तो वहां हमें लिवाने के लिए हमारे परिवार का एक मित्र मेजर मेनन पहले से ही पहुंचा हुआ था। गोलंगोड़ के राजा का बेटा था मेजर मेनन। जब वह कलकत्ता में था तो हमारे परिवार से उसकी मित्रता हुई थी। तब मैं लड़की थी। अब जवान हो रही थी। मुझे इस रूप में साड़ी-बाड़ी पहने देखकर वह हैरान रह गया। साड़ी पहनने की मैं आदी नहीं थी, पर क्योंकि मैं घर जा रही थी, इसलिए पहन ली थी। नलपत हाउस में हमारे घर की औरतों को लड़कियों की उघड़ी टांगें देखना अच्छा नहीं लगता था। पुराने विचारों की रूढ़िवादी औरतें जो थीं।

मेजर मेनन ने मुझे और मेरे साथ की सबको अपने यहां दोपहर के भोजन पर निमंत्रित किया था। हमारे दल की जब सब चली गईं तो मेरी वह सहेली मुझे गुसलखाने में ले गई और बोली, "इकट्ठे नहाएंगे।" हम लोग एकसाथ नहाए। नहाने के बाद उसने मेरे जिस्म पर क्यूटीकोरा पाउडर मला और फिर मुझे कपड़े पहनाए। ऐसा लगा कि हम हनीमून मना रहे हैं।

जब हम लोग मेजर मेनन के यहां पहुंचे तो खाना तैयार था। वही मलियाली खाना—कालन, सांभर, ओलन, अवियाल, एलिसरी और आम-नींबू की चटनी। मेजर मेनन बहुत खुश था और मेरा अहसानमंद भी कि मेरे कारण उसके यहां सुन्दर-सुन्दर लड़कियां जुट गई थीं। मेरी सहेली ने और मैंने बहुत थोड़ा खाया था। खाने के बाद बड़े लोग लॉज में बैठे बतिया रहे थे तो हम लोग बगीचे में टहलने निकल गई थीं।

शाम को हम लोगों ने दक्षिण को जाने वाली दूसरी गाड़ी पकड़ी। मेरी

सहेली ने गाड़ी में अपनी प्लेट में मुझे बिरियानी खिलाई थी। रात जब हमारी अध्यापिकाएं सो गई तो मेरी सहेली उठकर मेरे पास आ गई। मुझे चूमने लगी और फिर चली गई, क्योंकि इस बार मेरी बर्थ बहुत छोटी थी। वह मेरे साथ लेट नहीं सकी; लेकिन जब तक वह मेरे पास बैठी रही, मुझे चूमती रही। सेक्स की बहशत में चूमती रही। और मेरी सांसों में इंजन के धुएं और उस लड़की के पसीने की अजब-सी गंध के झोंके आते रहे। जब मेरा स्टेशन आया और मेरा एक सम्बन्धी मुझे वहां से लिवा ले चला तो उस लड़की ने हाथ हिलाकर मुझे विदा दी, किन्तु मेरा हाथ न उठ सका। शायद मन में कहीं चाहती थी कि इससे हमेशा के लिए छुटकारा पा लूं, सहज-सामान्य हो लूं, जैसी कि उससे मिलने से पहले थी; लेकिन जाने क्यों नलपत हाउस में अपने दादा के कमरे में पड़ी-पड़ी खिड़की से बाहर आम के पेड़ों को तकती हुई मैं उसीके ध्यान में खोई रही। उसीकी आवाज और उसीकी मुस्कान मुझे परेशान किए रही।

नलपत हाउस पहुंचने के एक सप्ताह बाद हमारा एक सम्बन्धी हमारे यहां आया। मैं और मेरा भाई मिलकर जो हस्तलिखित पत्रिका निकालते थे, उसमें वह बराबर लिखा करता था। वह बम्बई में रिजर्व बैंक में काम करता था। एक बार उसने हमारी पत्रिका के लिए एक कविता भेजी थी, जिसका शीर्षक था, 'एक बैंक क्लर्क के सपने।' कविता अच्छी थी। उसके बाद उसने एक कहानी लिख भेजी। कहानी व्यंग्यात्मक थी। उसका नायक था बम्बई का प्रभाकर नामक एक युवक, जो नहीं जानता था कि किधर जाए; लेकिन उसने स्वयं को सिर्फ अपने सेक्स की लहरों के सहारे छोड़ रखा था।

वह ठीक-ठाक लिखा करता था। छुट्टियों में जब वह नलपत हाउस आया तो मुझे देखकर हैरान रह गया। मैंने उस समय धारीदार साड़ी पहन रखी थी। मुझे देखकर बोला, "अरे! तू तो जवान हो गई है। मैं तो समझता था कि अभी बच्ची ही होगी।" जब मैं बच्ची थी और दादी के यहां जाया करती तो वह भी वहां आया करता था और अक्सर मुझे उठाकर अपनी बांहों में झुलाया करता लेकिन इस बार मुझे बैठाकर बातें की थीं—हक्सले और बर्टेण्ड रसल के उद्धरण कहे थे। वह दुबला-पतला-सा था। चलता तो झूलता-सा लगता। उसके दांत बहुत खराब थे, पर चेहरे से वह बौद्धिक लगता।

उन दिनों मेरा प्रिय लेखक था आस्कर वाइल्ड और मुझे सबसे अच्छी लगती थी एक कविता, जिसका शीर्षक था—'बैलड ऑफ रीडिंग गोल'। वह आदमी मुझसे समलैंगिक सम्भोग के बारे में खुलकर बातें किया करता था। कहता, "हममें से बहुत-से इस अनुभव में से गुजरते हैं।" मुझे उसकी बातें सुन-सुनकर डर लगा करता कि कहीं दादी यह सब सुन न लें। अंधेरा पड़ते ही वह उठकर चल देता। मैं उसे छोड़ने बाहर तक जाती। बाहर अंधेरे में वह मुझे भींच लेता। जब मैं लौटती तो एक अजब-सी कसमसाहट मेरे भीतर व्याप्त रहती।

एक रात दादी मेरे कमरे में आकर मुझसे कहने लगीं, "बेटी, इसीसे तेरा ब्याह होगा। यही दास है न। इसमें कोई ऐब नहीं। तुम्हारे मां-बाप और इसकी मां चाहती है कि जल्दी से जल्दी तुम लोगों की शादी हो जाए।"

"लेकिन दादी, जल्दी क्या है?" मैं पूछती, यह जानते हुए भी कि पन्द्रह वर्ष की लड़की के सामने ये पुराने लोग कभी सच-सच बात नहीं कहेंगे।

उस समय यह भी स्पष्ट हो चुका था कि हमारा घर टूट रहा है। कारण समझ में नहीं आ रहा था। माताजी मालाबार में रह रही थीं और पिताजी कलकत्ता। औरों की तरह हमारा परिवार पूरा नहीं था। जब भी कभी हम सब इकट्ठे होते और मैं सुरक्षित अनुभव करने लगती, तभी कुछ न कुछ ऐसा हो जाता कि सब कुछ चरमराकर ढह जाता—ताश के महल की तरह। पिताजी रिटायर होकर मालाबार जा बसना चाहते थे—मेरी माताजी के पास। मैं बोझ थी उन सबके लिए। लड़की जो थी! मां-बाप के लिए भी और दादी के लिए भी। इसलिए जल्दी से जल्दी सब लोग मेरे बोझ से हलके हो लेना चाहते थे। अतः सबने आशीर्वाद देकर मेरी शादी पक्की कर दी।

"नहीं, अभी नहीं।" मैंने कहा था, "मुझे कलकत्ता जाकर पहले अपनी परीक्षा तो दे लेने दो।"

मेरे कलकत्ता जाने से पहले की बात है कि एक दिन मेरे भावी पति ने मुझे दरवाज़े के पीछे एक अंधेरे कोने में दबोचकर चूम लिया और अपनी मोटी-मोटी उंगलियों में मेरे उरोज जकड़कर मसल डाले थे। बोला था, "तुम मुझे प्यार नहीं करतीं क्या? मेरा छूना अच्छा नहीं लगता?" मुझे बड़ा कष्ट हुआ था इस बात से। अपमानित भी हुई थी कहीं।

२१

वह मेरे शरीर को बेतरह मसलता ; नील पड़ जाया करते मेरे जिस्म पर

सगाई के बाद जब मैं कलकत्ता गई तो मेरे मन में संदेहों की धुंध छाई
लगी थी। मूड भी जाने कैसा-कैसा रहने लगा था। लगता कि कुछ सनक
हूं। सोचती, कहीं यह रिश्ता मानकर मैंने कोई भूल तो नहीं की ? कोई अ
चानी तो नहीं करती ? यह तो स्वस्थ भी नहीं दिखता। क्या मेरे बच्चों को
प्यार कर सकेगा ? इससे निभ जाएगी मेरी ?

कलकत्ता में मेरी सहेलियों को जब मेरी सगाई का पता चला तो ये
गईं। बोलीं, "अरे ! तू तो अभी बच्ची है री ! ब्याह रचाने से पहले पढ़ाई
पूरी कर लेती ! ऐसी क्या आफत थी ?"

"सब तय हो गया है अब तो।" मैंने कह दिया था, "इसलिए अब इ
बहस की गुंजाइश ही नहीं।"

पिताजी ने मेरे मंगेतर को एक सप्ताह के लिए कलकत्ता आकर रहने
निमंत्रित किया। जब वह बम्बई से वहां आया और हवाई जहाज से उतरा
उसने गर्म सूट पहन रखा था और उसकी दाढ़ी बढ़ी हुई थी। मैं दमदम ह
अड्डे की रेलिंग पर झुकी खड़ी उसे तक रही थी। बहुत ही बदमज़ा लग
मुझे यह। कार में बैठे जब हम घर जा रहे थे तो रास्ते में उसने मेरी उंगली
दबाकर कहा था, "तुम तो बदल गई हो।" ड्राइवर हमें ताड़ रहा था
आईने में देख-देख मुस्करा रहा था।

पिताजी हर रोज दोपहर बाद के किसी न किसी सिनेमा-शो की टिक

लोगों के लिए बुक कराकर ले आते और शहर के किसी बढ़िया होटल की मेज़ हमारे खाने के लिए बुक करा आते। अधिक से अधिक समय वह हमें साथ रहने का अवसर देते। यह सोचकर कि मुझे एक युवक का संग-साथ अच्छा लगेगा ; पर वह मेरा युवक मंगेतर ऐसा कि जब भी मुझे कमरे में अकेली पाता, मुझसे वक्ष उघाड़ने के लिए कहता। मैं मना करती तो वह जंगलियों की तरह पेश आता। मसल-मसलकर मेरे शरीर को लाल-नीला कर डालता। मालाबार में अपने घर की नौकरानियों के साथ लूटे गए आनन्द की कहानियां सुनाता। वे बेचारी गरीब खेतिहर मजदूरिनें हुआ करती थीं। उन्हें अपने आदमियों के साथ झटपट निपट-निपटा लेने की आदत थी। समय नहीं था, न आदमियों के पास, न उनके पास। हज़ार झंझट लगे रहते उनकी जान को। कभी गुड़ाई करनी है तो कभी हल चलाना है; कभी लकड़ियां बीननी हैं तो कभी ढोर-डंगरों के लिए चारा लाना है।

मेरा मंगेतर मुझसे पूछा करता, "तुम ठंडी क्यों हो ?" मैं बिलकुल नहीं जानती थी कि सेक्स की इच्छा क्या होती है। एक बार भी तो अनुभव नहीं हुआ था। वह पूछता, "तुम्हें मुझे देखकर जोश नहीं आता ?"

मैं ईमानदारी से कह देती, 'मुझे पता नहीं।"

वह पूरा सप्ताह हम दोनों के लिए निराशाजनक ही बीता। मैं शायद यह उम्मीद पाले हुए थी कि वह मुझे अपनी बांहों में भरकर सहलाएगा—मेरा चेहरा, मेरे बाल, मेरी बांहें और मेरे होंठ, और कानों में फुसफुसाएगा प्यार-भरे शब्द। शायद मैं वही सब उससे चाहती थी, जो मैं अपने पिता और माता से चाहती थी, परन्तु मुझे मिल नहीं पाया था। मैं चाहती थी कि वह मुझसे बातें करे। मुझे उनका संग-साथ मिले और मिले उसके संग-साथ की गरिमा। सेक्स तो मेरे मन में दूर-दूर तक नहीं था। मुझे उम्मीद थी कि मेरे जीवन का सारा अकेलापन वह अपनी बांहों से बुहार फेंकेगा।

फिर जब वह बम्बई चला गया तो पिताजी ने मुझसे कहा, "मैं खुश हूं बेटी, तुझे मन का साथी मिल गया।" सुनकर मुझे भला नहीं लगता था। कहीं खो गई थी मैं। दुखी भी हुई थी। मैं पिताजी से कह नहीं पाई थी कि मेरे मन में तो ऐसे जीवनसाथी की कल्पना थी, जो मेरे साथ स्नेहपूर्ण सम्बन्ध बना पाता; प्यार से बाल सहलाता और कानों में फुसफुसाकर मुझे तसल्ली देता कि सब कुछ ठीक-ठाक होने जा रहा है मेरे लिए। मुझे शरीर मसलने वाले खुरदरे हाथ नहीं चाहिए।

मैं नहीं जानती थी कि सान्त्वना पाने को किसे तलाशूं, किधर निहारूं ! बस, यों ही मैं अपनी एक सहेली को फोन कर बैठी थी। वह मेरी आवाज़ सुन हैरान हुई थी। बोली, "अरी ! मैं तो समझी थी, तूने मुझे भुला ही दिया।" फिर मैंने उसे अपने यहां आने को कहा। वह इतवार बिताने मेरे यहां चली आई। हम दोनों ने मिलकर किताबों वाले खाने साफ किए। सिर्फ एक बार उसने मुझे चूमा। हमारी आंखें बहने लगीं। मैंने उससे पूछा, "मुझे यहां से कहीं ले जा नहीं सकतीं

तुम ?"

वह बोली, "अभी नहीं। कम से कम चार साल तक नहीं। तू पहले अपनी पढ़ाई पूरी कर ले मेरी बन्नो !" कहती हुई वह अपना गाल मेरे गाल से रगड़ने लगी थी।

और फिर जब मैंने उसे अपनेमन से निकाल दिया तो लगा कि आत्म-दया का भाव भी मेरे भीतर से निकल चुका है। मैं जान चुकी थी कि जैसा कुछ भी मेरे जीवन का ढर्रा है, वही रहना है, उससे अलग मैं हट नहीं सकती। मेरे जीवन का जो नक्शा मेरे माता-पिता ने बना दिया है, उसीके अनुरूप मुझे जीना होगा। मुझे किसीकी हविस का शिकार होना ही होगा और शायद उससे कुछ बच्चों की मां भी बनना ही होगा। एक मध्यवर्गीय घरेलू औरत के सिवा मैं कुछ भी न बन पाऊंगी। झोला लिए सब्जियां-भाजियां खरीदती फिरूंगी। अपने बच्चों की पिटाई भी करूंगी—जब वे कीमती खिलौनों की फरमाइश करेंगे। पिटकर वे रोया करेंगे और मैं अपने पति के सम्ने कच्छे धोकर सूखने के लिए तार पर लटकाती रहूंगी।

उसी महीने की बात है, हमारे परिवार की एक मित्र अपनी एक नन्ही बच्ची और अठारह वर्षीय एक बेटे के साथ हमारे यहां महीने-भर तक ठहरने आई। उस महिला की कई सहेलियां शहर में थीं। प्रायः वह किसी न किसीसे मिलने आती ही रहती। उसका बेटा हर समय मेरे साथ बना रहता। या तो अपने कैमरे से मेरी तस्वीरें खींचता रहता या फिर हिन्दी फिल्मों के गाने गाता रहता। वह मुझे विक्टोरिया मेमोरियल बाग में भी ले गया था। वहां कभी मुझे पेड़ के पास खड़ी करके मेरी तस्वीर खींचता तो कभी बहते पानी के किनारे।

उसका संग-साथ मुझे भला लगता। फोटो खींचने के लिए मेरी मुद्रा सुधारने को जब वह हौले से मेरी बांह या टांग पकड़कर इधर-उधर करता तो उसके गालों पर लज्जा की लाली फैल जाया करती। वह खासा गुलगुला और गोरा-चिट्टा था। वह छात्र-नेता भी था और क्रान्तिकारी भी। "तुम क्या बनना चाहते हो ?" मैंने पूछा था उससे।

"बी० ए० करके मैं इस देश से कहीं दूर चला जाना चाहता हूं।"

वह अपने घर से भी खुश नहीं था।

मेरे भीतर भी उसे अपना-सा ही कुछ दिखा था।

"सुना है, तुम्हारा ब्याह होने वाला है ?" उसने कहा, "आखिर इतनी जल्दी क्या है तुम्हें ?"

मैंने कहा, "मैं भी तो जान छुड़ाना चाहती हूं इस जंजाल से।"

हम घंटों बैठे रहते हरी घास पर। कभी तिनके कुतरते रहते, कभी चुपचाप बैठे परस्पर निहारा करते। सच, बड़ा अच्छा लगता।

एक दिन हमारे रसोइये ने मुझे कहा, "बिटिया, तुम दोनों की जोड़ी तो सीता और राम की सी जोड़ी लगे है। इसीसे ब्याह करना। सुन्दर है लड़का।"

"पर अभी कोई कामधंधा तो करता नहीं। मुझे खिलाएगा कहां से ?" मैंने कहा था।

"सभी लड़कियां एक-सी ही होवे हैं। सिर्फ रुपये-पैसे की ही सोचती रहवें।" वह मुस्करा दिया था।

अपने घर लौटने के बाद उस लड़के ने मुझे खत लिखा था। मेरी शादी में शामिल होने का वायदा किया था उसने। मैंने कोई जवाब नहीं दिया।

और फिर फरवरी में मेरी शादी हो गई। आम के पेड़ों पर बौर खिले थे और मधुमक्खियों की भिनभिनाहटें गूंज रही थीं।

शादी से कई दिन पहले से ही घर-भर के नौकर-चाकर आंगन के झाड़-झंखाड़ की उखाड़-बुहार में जुट गए थे। फिर वहां एक शामियाना तान दिया गया; ताड़ के पत्ते और सफेद कागजी फूलों की मालाएं लटका दी गईं। बरकट की चटाइयों पर कोरे कपड़े बिछ गए और खम्भों के गिर्द रंगीन कागज लपेट दिए गए। आंगन-पार के बगीचे में एक छोटा-सा तालाब खोदकर उसमें कमल तैरा दिए गए। बगीचे-भर के फलों-लदे आम के पेड़ उखाड़कर एक कतार में फिर गाड़ दिए गए थे। मेहमानों ने हमारे बगीचे की इस नई सज्जा को बहुत सराहा था। पिताजी गद्गद हो रहे थे। हर किसीकी जुबान पर यही था कि ऐसी ठाठदार शादी तो इस साल कोई और देखी ही नहीं। घर के पिछवाड़े के खुले मैदान में कालीकट से आए हलवाइयों ने अपने तम्बू गाड़ रखे थे। वे हर समय तरह-तरह की मिठाइयां बनाने में जुटे रहते। हमारा एक कमरा तो सिर्फ लड्डुओं से ही भर गया था और एक में फल ही फल भरे पड़े थे।

इस सारे तामझाम से मुझे बड़ी बेचैनी हो रही थी। बहुत ही हलकापन लग रहा था यह सब। हमारे जैसे परिवारों की दृष्टि में विवाह का अर्थ केवल अपनी दौलत का दिखावा ही तो होता है। सब मेहमानों को जताया जा रहा था कि मेरे पिताजी ने पचास हज़ार रुपये लुटा दिए हैं इस ब्याह की तैयारियों में ही। दुल्हन का उन लोगों की दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं था। न उस बेचारी की खुशी ही कोई बड़ी बात थी उनके लिए। शादी से अगली रात कथकली नृत्य का आयोजन था। कलामंडल के बेहतरीन नर्तक बुलवाए गए थे। मैं इस सारी फिजूलखर्ची पर कोई टिप्पणी कर बैठी थी तो दादी ने मुझे डांट दिया था, "उलटे एहसान नहीं मानती बाप का कि उसने ऐसा ठाठदार ब्याह रचाया है तेरा। चल, जा ऊपर। आराम कर अपने कमरे में जा के। चली आई है बेशर्म कहीं की बढ़-चढ़कर बातें करने!"

मगर मैं उस सारे शोर-शराबे में इतनी बेचैन हो रही थी कि अपने कमरे में शांति से बैठ भी नहीं पा रही थी। मुझे लग रहा था कि मैं इस सारी शान-शौकत के योग्य दुल्हन हूं ही नहीं। मेरी जगह किसी सुन्दर दुल्हन को ही शोभा देता यह सब। शादी से पहली शाम पेड़ों पर रंग-बिरंगे बल्ब लटके हुए थे और हमारे बड़े-बूढ़े सम्बन्धी बड़े कमरे के फर्श पर बिछी ठंडी-ठंडी चटाइयों पर पसरे

पड़े अपनी थकान उतार रहे थे, और मैं अन्य बच्चों के साथ बगीचे में लुका-छिपी खेल रही थी।

फिर जिस समय मैं अपने कमरे में सोने गई तो सुबह के चार बज चुके थे। माताजी तभी उठकर पूजा-पाठ में मग्न गई थीं। दो घंटे बाद दादी ने मुझे जगाकर नहा-धो लेने को कहा। "अरी, तू दुल्हन है, दुल्हन। बिन नहाई देखेगा कोई तो क्या कहेगा? और सुन, नहाकर कोई अच्छी-सी साड़ी पहनना और मंदिर जाके पूजा भी करना।" मेरी आंखें जब पूरी तरह खुली तो मैंने दादी को देखा। उनकी आंखें डबडबा आई थीं।

"रो रही हो दादी?" मैंने पूछा।

"मैं क्यों रोने लगी बिटिया?" चेहरा छिपाती हुई दादी ने कहा, "आज तो हम सबके लिए कितने आनन्द का दिन है री!"

फिर मैं उठ कर भीड़-भक्कड़ में से रास्ता बनाती हुई नहाने चली गई थी। जल्दी-जल्दी नहा-धोकर सफेद साड़ी पहनकर आ गई तो हमारे सम्बन्धियों को मुझे देख खासी निराशा हुई थी। कह भी दिया था उन लोगों ने कि मैं तो दुल्हन-सी लग ही नहीं रही।

२२

सुहागरात

अपने ब्याह की बातों में जो बात मैं बिल्कुल ही नहीं भूल पाई हूं, वह यह कि मैंने अपने अठारह वर्षीय मित्र को बहुत निराश किया था। वह मेरी शादी में आया हुआ था और उसने मुझसे वायदा ले लिया था कि रात को कथकली नृत्य के समय मैं उसके नज़दीक बैठूंगी। सब लोग जब रात का खाना खा-पीकर निपट चुके, तब शुरू हुआ था नृत्य। चांद ठीक सिर पर चमक रहा था।

घर-भर के लोग जब बाहर नृत्य देखने चले गए तो मुझे मेरे पति ने रोककर कहा, "छोड़ो, क्या जाना है वहां। मेरा मन नहीं हो रहा कथकली देखने को।" और वह मुझे खींचकर बेडरूम में ले गया था। वहां अभी तक सारे उपहार आदि बिखरे पड़े थे। बिस्तर तक ठीक से बिछे नहीं थे अभी। सलवटें ही सलवटें और चादरें भी बदली नहीं गई थीं। नृत्य देखने की जल्दी में नौकर शायद भूल गए थे हमारे बिस्तर ठीक करना।

मैं जैसे ही अपनी भारी-भरकम ज़री की साड़ी उतारकर बिस्तर पर बैठी कि उसने मुझे धर दबोचा। वहशियों की तरह वह टूट पड़ा मुझपर। मैंने उसके चंगुल से छूटने की बेतरह कोशिश की। पसीने से नहा गई थी मैं। दिल बुरी तरह धड़कने लगा था। मैंने कहा, "आज हमारी सुहागरात है। चलो, पहले प्रार्थना तो कर लें भगवान कृष्ण की मूर्ति के सामने चलकर।"

"पगली हुई है क्या?" अविश्वास में मेरा मुंह तकने लगा था वह।

उसकी बलात्कार करने की कोशिश नाकाम रही थी। मैंने कहा था,

"लगता है, मैं एकदम ठंडी हूं, शायद औरत ही नहीं हूं। इस सबके काबिल ही नहीं।"

इसपर उसने मुझपर तरस खाती-सी दृष्टि डालकर मुझे अपने अंक में भर लिया था, "नहीं, ऐसा मत कहो। ऐसा हो भी तो कोई बात नहीं। हम तब भी सुख से रहेंगे।"

उस रात वह बार-बार मुझे नोचता-खसोटता रहा, और बाहर मिरासी के ढोल बजते रहे। हमारे कमरे की खिड़की की राह उनकी मरियल-सी आवाजें आती रहीं।

सुबह तक मेरी हालत यह हो गई कि जोड़-जोड़ दुखने लगा था…अंग-अंग टूट रहा था। छः बजे ही माताजी ने मुझे जगा दिया था, क्योंकि ब्याह में जुटे सम्बन्धी विदा हो रहे थे। मैं नीचे उतरी तो मेरी नजर पड़ गई अपने मित्र पर। कंधे पर कैमरा लटकाए मेरी तरफ तक रहा था। मेरी आंखें भर आईं, पर मैं कुछ कह न सकी। वह कुछ कहे बिना ही चल दिया था।

हम हनीमून मनाने कहीं नहीं गए। मेरा ससुराल संयुक्त परिवार था। पति के कई चचेरे भाई थे, जो उसे घेरे रहते हर समय। वह भी उनके स्नेह के मोह में घर पर ही पड़ा रहता। सबसे अपने गुणों का बखान सुनता रहता। एक मैं और आ गई थी उस परिवार में, उसके प्रशंसकों की भीड़ में, उसके फूहड़ लाड़ के आगे झुकने को।

मैं तो शादी के एक पखवाड़े बाद तक भी कुंआरी की कुंआरी ही रही थी, जबकि वह हर रात कई-कई बार मुझे दबोच चुका था—हर बार मेरे ना-ना करने के बावजूद। मेरे ना-नुकर और प्रतिरोध से वह तंग आ चुका था; जबकि मेरा प्रतिरोध केवल शारीरिक था, मानसिक नहीं। मैं अपने शरीर से मजबूर थी।

मन से तो मैं उन दिनों बहुत चाहने लगी थी। यहां तक कि चाहे जितना कष्ट हो मुझे, इसे किसी तरह सहन कर लूं; पर मैं क्या करती! मेरा शरीर ही साथ नहीं दे रहा था। कच्चा शरीर था न। इस सबके काबिल नहीं हो पाया था अभी। उसके लिए मेरा ऐसा शरीर एक मुसीबत बन गया था। वह तो इस मामले में खासा अनुभवी था। अपनी नौकरानियों के साथ काफी अभ्यास कर चुका था इस सबका।

और मेरे मस्तिष्क में उन दिनों प्यार का बड़ा ही रोमांटिक-सा चित्र बना हुआ था—बालों में गुंथा फूल हो गोया प्यार, या फिर किसी परिचित चेहरे पर पवन चांदनी बिखेरता हुआ चांद हो जैसे…कानों में कोमल-कोमल ध्वनियां फुसफुसाता हो कोई…

लेकिन फिर एक महीने तक निराशा, द्वेष और कड़वाहट सहने के बाद अचानक एक दिन मुझे लग आया कि मैं बड़ी हो गई हूं. मेरा चेहरा बदल गया है, बच्ची से सहसा औरत बन गई हूं मैं. मेरे हाथ-पैर धरन से दुखने लग रहे

हैं। तभी हम वम्बई चले गए थे। सांताक्रुज़ में 'दीपक' नामक एक फ्लैट में। वहां मेरे पति के कुछ अविवाहित मित्र भी रहते थे। मैं अपने पति के साथ रात को बैठक में जगह बनाकर सोती। फर्श पर ही चटाई डालकर बिस्तर बिछा लिया करते हम। आधी-आधी रात तक वे लोग बैठकर ताश खेला करते वहां। जब वे जाते, तब कहीं जाकर सोना नसीब होता हमें। फिर पौ फटने से भी पहले मैं उठकर मुंह-हाथ धो अपनी चटाई समेट देती ताकि वे लोग बैठक में बैठकर अखबार पढ़ सकें। अलस्सुबह ही अखबार फेंक जाया करता था अखबार वाला।

वे लोग नौ बजे ही दाल-भात खाकर अपने-अपने काम पर चले जाते। मैं अकेली रह जाती फ्लैट में। नौकर दिन-भर मटरगश्ती करता रहता। शाम को पांच बजे लौटता, अपने मालिकों को चाय-वाय बनाकर देने। उन दिनों मैं भूखी भी रहती और दुखी भी।

और फिर जब मुझे गर्भ रह गया तो मुझे लगातार उबकाइयां-उलटियां आने लगीं। मेरी हालत और भी गड़बड़ हो गई।

एक दिन मैं गुसलखाने में ही बेहोश होकर गिर पड़ी और गीले फर्श पर पड़ी रही। थोड़ी देर बाद जब मुझे होश आया तो लगा कि पानी मेरे सिर-तले से बहा जा रहा है। बहने की शूं-शूं की आवाज़ आ रही थी।

मेरा वज़न तेज़ी से कम होने लगा था। रात को पूरी नींद भी तो नहीं मिलती थी। पति मुझे रात को छोड़ता ही नहीं था। रात-भर में कई-कई बार वह मुझे परेशान करता। ऐसे जैसे कि कोई बदला ले रहा हो। और फिर दिन में बारह घंटे तक मुझे खाना नसीब नहीं होता था। बस, वही सुबह को नौ बजे उन लोगों के साथ मिर्ची-भरा दाल-भात खाया होता था मैंने।

एक दिन पिताजी कलकत्ता से आ पहुंचे थे। अपने दफ्तर के किसी काम से आए थे। 'ताजमहल' होटल में ठहरे थे। मुझे मिलने आए। फिर मुझे साथ ले गए थे—विक्टोरिया गार्डन, चिड़ियाघर आदि घुमाने। वह जानते थे कि मुझे जानवर देखना अच्छा लगता है। वहां हम तालाब के गिर्द की गोल दीवार पर बैठे तो पिताजी ने पूछा था, "इतनी दुबली क्यों हो गई है तू ? मैं तो समझ रहा था कि शादी के बाद कुछ मोटी हो गई होगी।"

तब मेरे मन में तो आया कि चीखकर कह दूं कि आपने गलत समझा, और यह कि इस आदमी से मेरी शादी नहीं होनी चाहिए थी ; पर मुझे लगा कि ऐसा कहकर मैं पिताजी को कष्ट ही पहुंचाऊंगी, इसलिए चुप रही।

पिताजी निरंकुश स्वभाव के थे। अगर कोई निर्णय गलत भी ले लेते, तब भी उसके बारे में कुछ भी सुनने को तैयार न होते। तब तक मुझे इतनी समझ आ गई थी कि मैं उनकी आस्थाओं की रक्षा कर सकूं। एक घंटे के बाद वे मुझे बाज़ार ले गए और एक सिंगर सिलाई मशीन दिलवा दी।

शाम को मेरा पति मुझे घुमाने ले जाया करता। मेरी टांगें दुखने लग जातीं। एक तो भूखी रह जाती थी और उसपर उलटियों के कारण और भी

कमजोरी आ गई थी। मैं उसके योग्य साथी नहीं थी। कभी कहीं से कोई हमदर्दी मिल जाती तो मैं बच्चों की तरह फफक पड़ती। वह मेरे इस मिजाज से उकता गया था। एक दिन कहने लगा, "ऐसा करो, तुम दादी के यहां जाकर कुछ दिन आराम कर लो।" मुझे यह सलाह पसंद नहीं आई, क्योंकि उसे देखना और उसके पास सोना मेरे निकट अब अधिक महत्त्व रखने लगा था। "मैं तुम्हारे बिना रह न सकूंगी।" कह ही तो दिया था मैंने ; लेकिन उसके दोस्तों को भी मेरी हालत पर तरस आने लगा था। उन्होंने ही उसपर जोर डालकर मुझे घर भिजवा दिया था।

और मैं एक ऐसे आदमी से स्वयं को उधेड़कर चली गई थी, जिसने मुझे प्यार करना सीखा ही न था। मालाबार में मैं अपने चाचा के साथ गई थी। वह मुझे बम्बई से लिवाने आया था। मालाबार में मैं अपनी दादी से मिली तो वे मुझे देखकर रोने लगी थीं। मेरी हालत ही ऐसी थी, मानो जान ही न हो जिस्म में। उन्होंने एक वैद्य को बुलाकर मुझे दिखाया। फिर उसी वैद्य का इलाज चला और मैं ठीक हो गई। बम्बई में बिताए अपने घटिया किस्म के हनीमून के दिनों को भूल गई थी।

हर सुबह मैं दादी के साथ पूजाघर में जाती। एक घंटे तक दादी से भागवत और गीता का पाठ सुनती। एक दिन मुझे अपने गर्भ में हलचल-सी महसूस हुई और मुझे लगा कि मेरा बच्चा प्राण धारण कर रहा है। मैंने दादी से कहा, "मेरे पेट में बेटा हिल-डुल रहा है।"

दादी बोलीं, "कैसे कह सकती हो कि बेटा ही है ?"

मैंने पूरे विश्वास के साथ कहा, "देख लेना, मेरे बेटा ही होगा। और होगा भी कृष्ण कन्हैया जैसा।"

और फिर धूप-बत्ती के धुएं में मुझे मेरा कृष्ण कन्हैया मुस्कराता हुआ दिखाई दिया था; और मैंने उससे कहा था : 'मैं तुम्हें हमेशा-हमेशा प्यार करती रहूंगी।' कहा तो मैंने मन ही मन था, पर चाहा यह था कि वह सुन ले। मैंने यह भी कहा था, 'सिर्फ तू ही मेरा पति हो सकता है, और सिर्फ तेरी ही जन्म-पत्री मेरी जन्म-पत्री से मेल खा सकती है।'

२३

प्यार के लिए गिन्नी

किसी जवान लड़की के लिए सबसे अच्छा खिलौना होता है एक जीता-जागता बच्चा—नरम-नरम, गुलगुला-सा, गुड्डे जैसा, जिसे वह नहला-धुला सके और सहलाकर सुला सके। मुझे जब प्रसव-पीड़ा शुरू हुई तो मैं अपने ग्रामोफोन पर पुराने-पुराने रिकॉर्ड लगाकर सुनने लगी थी, अपनी चचेरी बहनों से खुलकर बतियाने लगी थी ताकि किसी तरह मेरा मन और तरफ लग सके। जब मुझे प्रसव होने लगा तो सब लोग कमरे के बाहर बरामदे की दीवार के साथ लगे खड़े थे। सबसे अधिक उत्सुक था मेरा भाई, जो घड़ी-घड़ी पूछ रहा था कि बच्चा अभी हुआ है कि नहीं।

मैं उस अंतिम पीड़ा के लिए तैयार नहीं थी, जिसके तुरंत बाद बच्चा बाहर आ गया था—मेरी बाईं जांघ से रगड़ खाता हुआ। शायद इसीलिए मैं अपनी चीख रोक नहीं सकी थी उस समय। डॉक्टर जो था, वह मेरी सहेली राजी का पिता था। उसने मेरे गाल थपथपाकर कहा था, "बहुत खूब, बहुत खूब, बड़ा ही प्यारा बेटा हुआ है।"

बच्चा होने की सुनकर सब लोग भीतर आ गए थे और उसे देख-देख सराह रहे थे। ऊंचा माथा था मेरे बेटे का और दूधिया रंग। मैंने जब पहली दफा उसे देखा तो खुशी की चीख निकल गई थी मेरे मुंह से। मैंने कहा था, "मैं इसे मोनू कहकर पुकारा करूंगी। यह तो बिल्कुल लॉर्ड बायरन-सा लगता है।"

उन दिनों मैंने अपनी शृंगार मेज पर बायरन का चित्र टिका रखा था।

मैं चाहती थी कि मेरा बेटा बायरन-सा दिखे। जन्म से ही मोनू के पांव में कुछ गड़बड़ थी। टांग के साथ लटके पंख-सा लगता था उसका पैर। उसके पैर का यह नुक्स भी मुझे अच्छा लगता था। बायरन के पांव में भी तो नुक्स था।

लेकिन मेरी दादी ने रोज मालिश कर-करके उसका पैर ठीक कर दिया था। मेरी दादी और सास घंटों मेरे बेटे को लिए-लिए खिलाती रहतीं और उसकी सुन्दरता की प्रशंसा करती-करती उसे निहारती रहतीं। बीच-बीच में लपक-लपककर दूध पिलवाने ले आतीं। मैं उसे सिर्फ अपना ही दूध पिलाना चाहती। पिलाया भी, और उसी से वह पला, गुलगुला और प्यारा-प्यारा-सा फलने-फूलने लगा।

रात को जब वह मेरे पहलू में सोया होता तो उसे देखकर मुझे अपने पति की याद आती। मैंने पति को खत लिखा कि छुट्टी लेकर तुरंत चले आओ। वह आ तो गया; लेकिन हर रात कई-कई बार बच्चे के जगने-रोने से वह परेशान भी हो गया। गुस्से में कहता, "इसे लेकर अपनी दादी के कमरे में चली जाओ। इतने शोर-शराबे में मैं नहीं सो सकता।" और बच्चा मुझसे लिपटा रहता। शायद वह भी मेरी तरह स्वयं को अपमानित महसूस कर रहा होता।

मैं उसे लेकर दादी के कमरे में चली आती और फिर हम तीनों ही फर्श पर बिछी चटाई पर सो जाते। मैं दादी से कहती, "स्कूल में मैंने हिसाब पढ़ने में ज्यादा ध्यान नहीं दिया था न।"

"पर हिसाब-किताब की बात अब क्यों ध्यान आ रही है तुझे?" दादी पूछतीं।

"हिसाब सही जानती तो इतनी जल्दी शादी क्यों कर लेती!"

मेरी इस बात पर दादी हंस देतीं और फिर बड़े प्यार से मेरे बेटे को शॉल उढ़ा देतीं।

मेरा पति जब तक मालाबार में रहा, उसका अधिकतर समय रिश्तेदारों के साथ बीतता। मेरी तरफ बहुत कम ध्यान देता। उसे मेरा ध्यान आता तो सिर्फ रात को ही। सो भी सिर्फ सेक्स के कारण। मुझे लगता, जैसे कोई कर वसूलने आता था रात को। मेरे घुंघराले बालों में लगे पारिजात फूल बेकार ही मसले जाते, और मुझे कोई आनन्द नहीं आता। वह वहशियों की तरह मेरे ऊपर झपट्टा मारता और थोड़ी देर में ही मुझे छोड़ देता। उसकी रुचि की बातचीत का एकमात्र विषय सेक्स होता, जबकि मुझे इस बारे में कोई ज्ञान न था। न ही मेरा शरीर ऐसा था, जिसे देखकर सेक्स की प्यास जाग सके। बड़ी दुबली-पतली थी मैं, भले ही मेरे उरोज पपीते जैसे लगते। मुझसे कहीं अधिक आकर्षक और उत्तेजक तो नलपत में मेरे घर की नौकरानियां थीं, जो मेरे पति के लिए नहाने का पानी देतीं, कपड़े बदलने के लिए रखतीं और वह अंधेरे गुसलखाने में उनमें से किसीके भीतर आने का इंतजार किया करता था।

मैं उसके एक प्यार-भरे शब्द और प्यार की एक नजर तक को तरस जाया

करती। जब तक यह बात मेरे सामने एकदम साफ हो चुकी थी कि मेरे पति ने मेरे खानदान और दौलत को देखकर ही मुझसे शादी की थी। मेरे मन को एक अजीब-सा ठंडापन जकड़ चुका था, और मैं यह भी जान चुकी थी कि मैं जिस प्यार के सपने देखा करती थी, वह मुझे पति से नहीं बल्कि, कानून के घेरों से बाहर मिलेगा। मुझे अपने प्यार की सही पहचान चाहिए थी।

बम्बई लौटकर उसने जो सबसे पहला खत लिखा था, वह मुझे नहीं, अपनी चचेरी बहन को लिखा था, जिससे उसका चुम्बन-आलिंगन का रिश्ता था। इससे मेरे मन में यह इरादा पक्का हो गया था कि मैं भी अपने पति के साथ बेवफाई करूंगी। कम से कम शारीरिक तौर पर।

उन्हीं दिनों पिताजी ने पुराने नलपत हाउस के पास एक नये ढंग का मकान बनवाना शुरू कर दिया था, क्योंकि पिताजी मांसाहारी थे और नलपत के रसोईघर में मांस पक नहीं सकता था। नया मकान बनाने वाले मजदूरों में एक जवान राज था, जो कि ठेके पर काम करने के लिए किसी दूसरे गांव से आया करता था। बहुत ही सुन्दर था वह। जब वह ईंटें चिन रहा होता तो मैं और मेरी चचेरी बहनें उसीकी ओर तका करतीं। वह हमारी नौकरानी की तरफ देखकर भद्दे-भद्दे इशारे किया करता। नौकरानी आकर मुझे बताया करती। इससे मुझे सूझा कि क्यों न इसीके ऊपर हाथ धर दूं।

मकान का काम जब लगभग पूरा हो चुका तो मैंने अपनी नौकरानी के हाथ उसके लिए एक गिन्नी भिजवाई और साथ ही कहला भेजा कि वह रात को चांद निकलने से पहले-पहले भगवती की समाधि पर मुझे मिले। लेकिन मेरी नौकरानी लौट आई। बोली, "वह तो अपने गांव लौट गया।" मैं उसके गांव का पता नहीं जानती थी। मैंने नौकरानी से कहा, "जैसे भी हो, उसका पता लगाओ और उसे यहां बुलाओ। और इसी सप्ताह के अंदर-अंदर तुम उसे यहां बुलवा दोगी तो मैं तुम्हें सोने का हार दूंगी।"

मैं तो उन दिनों अपना प्यार उड़ेलने को तैयार बैठी थी। पूरी तरह सेक्स से भरी पड़ी थी। मेरी चाल-ढाल, बातचीत से सेक्स टपकने लगा था। एक दिन मेरे चचेरे भाई ने सीढ़ियां चढ़ते हुए मुझे दबोच लिया। बोला, "कितनी सुन्दर हो तुम!" भले ही उसकी बात पर मुझे विश्वास नहीं हुआ, फिर भी खाली एहसान जताने के लिए ही कुछ देर तक अपने-आपको उसकी बांहों में घिरी रहने दिया। लेकिन जब उसने मुझे चूमा तो उसके बासी मुंह की गंध मुझे गंदी लग उठी थी।

शायद वे दिन मेरे जीवन की सबसे अधिक मदभरी बहार के दिन थे। मैं अपने पति को लगभग भूल चुकी थी। उसके खत भी आते तो मैं उन्हें यूं ही दराज में पटक देती। उन खतों में वह अकसर एक दोस्त के बारे में लिखा करता कि तुम उससे मिलोगी तो बहुत पसन्द करोगी उसे।

आखिरकार यह तय हुआ कि मैं फिर अपने पति के पास लौट जाऊं। मेरे जाने से मेरे चचेरे भाई-बहनों को बहुत दुःख हुआ। मेरी सास और दो नौकर

मेरे साथ बम्बई गए। दादर के पास हरि निवास में हमने फ्लैट खरीदा था। वहीं हम सब रहने लगे। हमारे फ्लैट का बरामदा सांझा था, जहां से हमारे अड़ोसी-पड़ोसियों के नौकर हमारे कमरे में ताक-झांक किया करते। इससे मेरी सास को बड़ी कुढ़न हो जाया करती।

मेरी सास मालाबार के सबसे धनाढ्य संयुक्त परिवार की थी, और अपने परिवार में सबसे बड़ी थी। बड़ी खुली जगह में रहने की आदी थी और उसके ज़रा-से इशारे पर नौकरों-चाकरों की भीड़ जुट जाया करती।

लेकिन बम्बई में 'सिटी लाइट' सिनेमा के साथ हरीनगर में उसे रहना पड़ रहा था, जहां भैंसों के पेशाब की बदबू आती रहती। वहां रहने से उसकी स्थिति किसी धनाढ्य परिवार की मुखिया-सी न रहकर मात्र एक मद्रासन बुढ़िया जैसी रह गई थी। भले ही उसका रंग कश्मीरियों का सा गोरा-चिट्टा था।

२४

जब मैंने नौकर को नींद की गोलियां लाने भेजा

जब भी कोई हमारी खिड़कियों में झांकता, मेरी सास परेशान हो जाती। बड़बड़ाने लगती।। फ्लैट को कोसने लगती। कभी बुढ़िया नौकरानी पर बरसने लग जाती तो कभी रसोइये पर। नौकरानी मनमानी भी काफी करने लगी थी और रसोइया पैसों में गड़बड़ करने लगा था। पास-पड़ोस की लड़कियों के साथ मेरी निकटता बढ़ती जा रही थी और वे मुझे फुसलाकर बारजे में खेलने-कूदने ले जाया करतीं। इससे भी मेरी सास चिढ़ा करती।

हमारे ठीक साथ के फ्लैट वाले मराठों की दूसरी बेटी उषा किरन उन दिनों की लोकप्रिय फिल्म-अभिनेत्री थी। उससे छोटी दो बहनें मेरी सहेलियां बन गई थीं। गणेशोत्सव से एक महीना पहले ही हम लोगों ने अपने बारजे में ही गुजराती 'गरबा नृत्य', पंजाबी 'भंगड़े' और एक हिन्दी नाटक का पूर्वाभ्यास करना शुरू कर दिया था। उन लड़कियों के संग-साथ में मैं अपने जीवन की कड़वाहट भूलने लगी थी। जितना भी समय उनके साथ बीतता, कम से कम उतनी देर को तो मैं ठीक वैसी ही अलमस्त हो जाती, जैसी कि बम्बई आने से पहले हुआ करती थी।

लेकिन मेरी सास मन ही मन कुढ़ा करती। उसे लगता कि मैं न तो अपने बेटे का ध्यान रखती हूं, न घर का। जब-जब भी वह बड़बड़ाती, मेरे पति को गुस्सा आता और वह गुस्सा उतरता या तो मुझपर या मेरे बेटे पर। नौकर भी मेरी सास से उकता गए थे। वे मालाबार लौट जाने की धमकियां लगभग रोज़ ही देने लगे थे। मेरा पति भी शाम को अपने प्रिय मित्र (जिसके बारे में वह मुझे

खतों में लिखा करता था) के पास गपशप लड़ाने न आ पाता तो मुझीपर बरसने लगता।

मैं बहुत तंग आ चुकी थी अपने जीवन से। एक दिन जब मुझसे और सहते ही न बना तो मैंने नौकर को भेजा एक दर्जन नींद की गोलियां लाने; लेकिन बाज़ार में हर केमिस्ट ने डॉक्टरी नुस्खे के बिना गोलियां देने से मना कर दिया। नौकर खाली हाथ लौट आया और रोकर कहने लगा, "अगर आपने आत्महत्या की तो मैं भी कर लूंगा।" उसके बाद नौकरानी आकर कहने लगी, "मैं भी दस-तल्ले आकर मर जाऊंगी। ऐसे मैं जी न सकूंगी।" हम तीनों की दशा दयनीय थी।

पति ने मुझे बारजे में आने और नाटक आदि का पूर्वाभ्यास करने को मना कर दिया था। उसने कहा, "मत भूलो कि तुम पत्नी हो, मां हो।" और मेरी सहेलियां मुझपर करुण दृष्टि डालती हुई हमारी खिड़की के सामने से गुज़र जातीं।

फिर मैं घर की देखभाल में लग गई थी। दोपहर-भर कमीज़ों में बटन टांकती। पुराने कपड़े रफू करती। शाम को पतिदेव के लिए चाय-नाश्ता बनाती। जैसे-तैसे मैं स्वयं को घरेलू काम-काज में व्यस्त रखने लगी थी, लेकिन मेरी आत्मा चीख-चीखकर विरोध करती कि भाग जा यहां से…बच निकल इस फंदे से…

जब सास का असंतोष अधिक बढ़ गया और नौकर हर समय बुड़बुड़-बड़बड़ाने लगे तो मेरे पति ने हम सबको मायावार भेजने का फैसला कर लिया। सभीको वह फैसला भला लगा। मेरे चचिया ससुर आकर हमें लिवा ले गए थे।

२५

रक्तरंजित चांदनी

मेरे बम्बई लौटने से पहले ही मेरे पति ने हरि निवास वाला फ्लैट बेचकर ग्वार में एक किराये का फ्लैट ले लिया था। इसकी सलाह उसे एक हितू मित्र ने दी थी—शायद यह सोचकर कि इससे हमारी गिरस्ती जमने में मदद मिलेगी। मैं अपने साथ एक रसोइया और मुन्ने के लिए एक आया और अपने लिए एक पंद्रह वर्षीय नौकरानी ले आई थी, जबकि हम लोग तीन-तीन नौकरों का खर्चा नहीं उठा सकते थे।

मेरा पति हर सुबह नौ बजे से पहले ही दफ्तर के लिए निकल जाता और रात को दस बजे लौटा करता। तब तक बेटा अपने कमरे में सो चुका होता। बूढ़ी आया भी उसकी खाट-तले अपनी चटाई डाल पसर चुकी होती। ऐसे में भला बाप-बेटे के बीच मोह-तंतु क्योंकर जुड़ पाते!

बच्चों में एक विशेष प्रकार का सहज ज्ञान होता है, जिससे वे बड़ों की तुलना में कहीं अधिक सहज भाव से सही-सही पहचान जाते हैं दूसरों को। इसीलिए उनके स्वीकारने या नकारने में भी बड़ों की अपेक्षा अधिक तीव्रता रहती है। धीरे-धीरे मेरे बेटे ने अपने बाप को नकारना शुरू कर दिया था। उसके मन में नफरत-सी पैदा हो चली थी। सिर्फ इतवार को ही वह अपने बाप को देख पाता।

अक्सर वह आधी रात को उठकर हमारे बेडरूम का दरवाज़ा खटखटाने चला आता। आया उनींदे स्वर में उसे पुचकारती सुनाई पड़ती। मेरे पति को यह सब अच्छा नहीं लगता। वह हम तीनों पर चिल्लाता। एक रात तो हद ही

हो गई। उसने दो साल के बेटे को रसोईघर में बंद करके बाहर से ताला लगा दिया और वह बेचारा ठंडे फर्श पर पड़ा-पड़ा बिलबिलाता रहा।

मैं बेतरह परेशान हो चुकी थी। पति के प्रति जो भी थोड़ा-बहुत मानसिक लगाव रहा था, वह खत्म हो चुका था। उन दिनों वह अपने दफ्तर के काम में भी बहुत व्यस्त था। ग्रामीण उधार सर्वेक्षण समिति की रिपोर्ट तैयार कर रहा था। उसके पास अपने परिवार के लिए समय ही कहां था! हर समय उसके दिमाग की नसें तनी रहतीं। मैंने एक बार भी उससे कोई बहस करने की कोशिश नहीं की। हर रात मैं अपना शरीर उसको सौंप देती। यह सोचकर कि शायद इसीसे उसके दिमाग की नसों का तनाव कुछ ढीला हो। और फिर रात को जब सब लोग सो जाते तो मैं चुपचाप उठकर बैठक में चली जाती। वहां बैठी-बैठी सुबकती रहती और अपने भीतर यह विश्वास जगाने की बेतरह कोशिश किया करती कि शायद मेरे अच्छे दिन कभी लौट आएं।

यह सच है कि अड़ोस-पड़ोस में मेरी कई सहेलियां थी। वे हर दिन मेरे यहां आतीं, बैठतीं, बतियातीं, मेरे रसोइये ने जो कुछ बनाया होता, उसे चखती भी, लेकिन वे सब शायद वही बहम ओढ़कर आती कि हमारी गृहस्थी बड़ी सुखी है। शायद हमारी सुखी गृहस्थी की कल्पना की गरिमा ही उन्हें मेरे पास खींच लाती। लेकिन उनमें से किसीने कभी यह नहीं सोचा कि मैं क्यों इतनी अलग-थलग और वंचिता हूं।

मैंने कभी किसीके सामने स्वीकार नहीं किया था कि मेरी शादी नाकाम साबित हुई है। मैं अपने पति से तलाक भी नहीं लेना चाहती थी, क्योंकि तलाकित होकर अपने घर नलपत हाउस लौट नहीं सकती थी; क्योंकि पिछली तीन पीढ़ियों से हमारे दोनों परिवारों के बीच साख बनी हुई थी, जिसे मैं मिट्टी में नहीं मिलाना चाहती थी। मेरे बड़े दादा नारायण मेनन (जो कि कवि थे) का ब्याह मेरे पति के परिवार में ही हुआ था। और इसके अलावा दुनिया में मेरी सबसे प्रिय सखी मालती भी मेरे पति के परिवार से ही संबंधित थी।

मेरे मां-बाप और अन्य सम्बन्धियों के मन में यह बात हमेशा रहा करती कि हाय, लोग क्या कहेंगे! विफल विवाह को कोई पसन्द न कर सकता। ऐसा सुनकर तो उन्हें यों लगता, गोया कोढ़ टूट पड़ा। उन दिनों यदि मैं अपनी आत्मा की आवाज सुनकर पति को छोड़कर चली जाती तो यह असम्भव था कि दूसरा कोई भी मुझे अपनाने को तैयार हो सकता; क्योंकि मैं सुन्दर भी न थी और मेरे साथ दो साल का बेटा भी था, जो कि मेरे किसी भी नये पति के लिए अवांछित होता।

मैं इतनी पढ़ी-लिखी भी नहीं थी कि मुझे कोई ढंग की नौकरी मिल सकती। मैं वेश्या का पेशा भी अपना नहीं सकती थी, क्योंकि मैं बहुत ठंडी थी। मैं किसी काम के भी योग्य नहीं थी। पड़ी-पड़ी सोचा करती, सुबकती रहती, या फिर सोती रहती। एक बार जब मेरा पति दफ्तर के काम से उड़ीसा गया हुआ था तो

मेरा बेटा बीमार हो गया। उसने किसी झाड़ी से अरण्डी के बीज खा लिए थे। उसे इतनी उलटियां आईं कि उसका रंग नीला पड़ गया। उसकी आंखों के गिर्द काले हलके निशान पड़ गए। रोता तो उसका जिस्म कुछ ऐसा झटके खाता, गोया वह किसी बूढ़े आदमी का कठपुतला हो। गन्दगी में पड़ा-पड़ा वह मुझे पुकारता रहता और मैं उसे अपने सीने से सटाए उसकी पीठ पर हाथ फेरती रहती; लेकिन उसकी हरी-हरी उलटियां बंद न होतीं।

हमारा डॉक्टर बूढ़ा था। घबरा गया था बेचारा। मुझे सांत्वना देते हुए कहता, "भगवान इतना निर्दयी नहीं है। जो कुछ वह करता है, वही जानता है। और उसके हर काम के पीछे कुछ छिपा रहता है।" डॉ० पटेल उसका नाम था। बच्चे की नसों में वह ग्लूकोस चढ़ा रहा होता और मैं रसोई में जाकर फर्श पर पड़ी-पड़ी भगवान से प्रार्थना किया करती कि हे भगवान, मेरे बच्चे को ठीक कर दे। मेरे खयालों में उस समय भगवान कृष्ण का मुस्कराता हुआ चेहरा छाया रहता, और मैं बच्चों की तरह उस समय कसम खाती कि अगर मेरा बच्चा बच जाएगा तो मैं अपने सारे ज़ेवर उतारकर भगवान को समर्पित कर दूंगी। तभी यह आश्चर्यजनक घटना घटी कि कुछ ही देर बाद बच्चा ठीक से सो गया और उसकी सांस ठीक-ठाक चलने लगी।

बच्चे की बीमारी से मुझे बड़ा धक्का लगा था। मेरे भीतर का दर्द मेरे चेहरे पर उभर आया था, जिसने मेरी सारी सुन्दरता सोख ली थी। मैं एक ऐसा घर बनकर रह गई थी, जिसकी सारी बत्तियां बुझ चुकी हों। मैं अपने घर में इस कमरे से उस कमरे तक घूमती रहती—फटी हुई साड़ी पहने, और मेरी टांगें दुखती रहतीं। लगता, जैसे किसी प्रेत का साया मुझमें समा गया हो। मेरा पति कहता कि मैं पागल हुई जा रही हूं। शायद मैं हो भी गई थी; पर मेरे बस में ही क्या था!

उन्हीं दिनों मेरा पति चैन पाने के लिए अपने एक पुराने मित्र की ओर झुक गया था। मेरे सामने ही वे दोनों दो प्रेमियों की तरह व्यवहार करते। एक दिन जब मेरा जन्म-दिन मनाया जा रहा था तो उन्होंने मुझे बाहर निकालकर बेड-रूम का दरवाज़ा भीतर से बंद कर लिया था। कुछ देर तो बाहर खड़ी-खड़ी मैं हैरान होती रही कि ये दोनों मर्द आपस में क्या कर सकते हैं, लेकिन फिर मेरा अहम् आड़े आ गया और मैं वहां से हट गई। अपने बेटे के पास आकर लेट गई। उस समय मुझे अपने औरतपन के प्रति घृणा होने लगी थी। मेरी छातियों का बोझ मुझे असह्य लगने लगा था। और अपना गुप्तांग मात्र एक घाव-सा लग उठा था। ऐसा कि जैसे यह मेरी आत्मा के घाव का सूचक हो। "तुम रो क्यों रही हो अम्मा?" मेरा बेटा पूछ रहा था, और मैं सिर झटक-झटककर कह रही थी, "कुछ नहीं बेटे, कोई बात नहीं।"

जब भी रात को अपने पति के पांव पकड़कर मैं बैठती तो मुझे लगता कि उसका प्यार मुझे कभी नहीं मिलेगा। अन्य अनेक भाग्यवान थीं, जिन्हें उसका प्यार मिलता था।

२६

अन्धकार का पहला अध्याय

मेरी बूढ़ी आया बड़ी ही बातूनी और गंवार थी। दिन-भर इधर-उधर घूमती रहती। इस-उस से दोस्ती करती फिरती। कुछ बतरसिए पड़ोसी उसकी नमक-मिर्च लगी गप्पें सुनने को कभी-कभार उसे कुछ पैसे भी दे देते थे। यू वह तो चुटकी-भर तम्बाकू पाकर ही अपनी गप्पों का खज़ाना खोल बैठती। अपनी दात की खोल में तम्बाकू ठूंसकर धारा प्रवाह बोलती रहती।

आसपास के लॉजों में रहने वाले छड़ो के साथ उसकी खास दोस्ती हो जाती। इतवार को दोपहर बाद जब हम लोग सो जाते तो वह अपने छडे मित्रों के साथ बतियाने चल देती। वह अकसर उनमे से किसी न किसीका नाम लेती रहती और उनकी दरियादिली का बखान करती रहती; लेकिन मैं उसकी इस तरह की बक-बक पर कोई ध्यान न देती।

मुझे तो उसकी करख्त आवाज से ही नफरत थी। इसपर उसके भड़कीले-भोंड़े कपड़े और भद्दा बनाव-शृंगार मुझे एक आंख न भाते। वह लगभग हमेशा ही लाल ब्लाउज पहने रहती और आंखें काजल से काली किए रहती और होंठों पर पान रचा रहता।

एक रात मैं अपने कमरे मे अकेली पड़ी थी। सिरदर्द के कारण मैंने सिर पर रूमाल बाधा हुआ था। मेरा पति घर पर नही था। दफ्तर के काम से आसाम गया हुआ था। मेरे कमरे के दरवाज़े पर पहले तो किसीने दस्तक दी और फिर जब दरवाजा खुला तो मुझे दो परछाइया दिखी। एक तो मेरी आया

की थी और दूसरी एक मोटे आदमी की। वे दोनों मेरे बिस्तर के पास आ गए। आया बोली, "घबराओ नहीं, ये वही हैं, जिनके बारे में मैंने एक बार ज़िक्र किया था। ये अकसर तुम्हारे बारे में पूछा करते हैं।" यह सुनते ही मुझे धक्का-सा लगा। मैं उठकर बैठ गई। आतंकित हो आई थी। फिर भी मैंने आया से पूछा, "इतनी रात गए किसी अजनबी आदमी को तुम मेरे पास क्यों ले आई हो?"

"घबराइए नहीं, मैं आपको कोई कष्ट नहीं दूंगा।" कहता हुआ वह आदमी मेरे और करीब सरक आया।

"चले जाइए, हट जाइए।" मैं लगभग चीख पड़ी थी, लेकिन मेरी आवाज़ मुझे स्वयं बड़ी कमज़ोर मालूम पड़ रही थी। इस बीच आया बड़बड़ाती हुई चली गई थी और उसने मेरे कमरे का दरवाज़ा बाहर से बंद कर दिया था। तब मेरी समझ में आया कि इस आदमी ने मेरी आया को घूस देकर यह सारा नाटक रचा है।

स्पष्ट था कि बलात्कार होगा। मैं बोली, "देखिए, मेरा सिर फटा जा रहा है। मेहरबानी करके आप चले जाइए।" लेकिन उसके मुंह से दो-एक विचित्र-सी घरघराहटें सुनाई दीं और फिर धम से उसका शरीर मेरे शरीर पर आ गिरा। उससे शराब की गंध आ रही थी और उसके बोझ से मेरा अंग-अंग बेतरह दब गया था। मेरा जी मिचलाने लगा था। मन हो रहा था कि उठकर कै कर दूं कि तभी वह बलात्कार करता हुआ बीच में ही लुढ़क पड़ा और एकदम निढाल होकर मेरे बिस्तर पर नीचे जा गिरा। उसके हाथों में मेरे ठंडे पैर थे। वह मेरे टखनों को चूमता हुआ कह रहा था, "क्या तुम मुझे माफ नहीं कर सकतीं बच्ची?" इसपर मैं क्या कहती! वही फिर बोला, "क्या तुम यह सब कुछ लोगों से कह दोगी?"

मैं फुसफुसाई, "नहीं, मैं तुम्हें माफ कर दूंगी, लेकिन तुम यहां से चले जाओ।" इतना सुनते ही उसे नींद आ गई और वह वहीं पसर गया। मैं उठकर अपने बेटे के कमरे में चली गई। उसकी भी नींद उखड़ने लगी थी और मेरा दिल बुरी तरह धड़क रहा था।

सुबह को सात बजे मेरी आंख खुली। खूब दिन चढ़ आया था। मैं अपने कमरे में गई। पलंग के नीचे तक झांककर देखा। अलमारी तक खोलकर देख डाली, मगर वह कहीं दिखाई नहीं दिया। वह अब नहीं था। आया ने मुझसे पूछा, "क्या ढूंढ़ रही हैं?"

"कौन था वह? क्यों लाई थी उसे?" मैं भड़क पड़ी थी।

"कौन? कहां? कोई भी तो नहीं था!" वह बोली।

मैं चकरा गई। तो क्या वह सब दिवास्वप्न था? मगर वे शराब की गंध के भभाके और जिस्म फाड़ डालने वाला दर्द, वह सब क्या था? मेरी यह हालत देखकर बूढ़ी आया कहने लगी, "मुझे लगता है बिटिया, तुम्हारा दिमाग चल गया है।"

अगले ही दिन से मैं मोनू के कमरे में सोने लगी थी।

फिर जब मैं दूसरी बार गर्भवती हुई तो मुझे वाकई लगने लगा था कि मैं बिलकुल बदल गई हूं। शायद पागलपन की हदों में कदम रखने लगी हूं। अचानक एक दिन मैंने मांस-मछली खाना शुरू कर दिया था, जबकि मैं पहले एकदम शाकाहारी थी। मैं बदमिजाज भी हो गई थी और जरा-जरा-सी बात पर मुझे गुस्सा आने लगा था।

जब मैं आठवें महीने से थी तो मैं अपने घर चली गई थी, अपनी दादी के पास नलपत हाउस में। मुझे बदली हुई पाकर दादी को भी कष्ट हुआ था। मैं सम्मोहित-सी हुई बैठी घंटों निहारती रहा करती—दीवार के दाग-धब्बे तक। दादी कहती, "यह बच्ची तो हंसना ही भूल गई है। इतना कैसे बदल गई?"

दादी का यह विश्वास था कि गर्भवती औरत जब जो खाना-पीना चाहे, उसे मिलना चाहिए। इसलिए मैंने जब शराब पीने की इच्छा प्रकट की तो दादी ने जैसे-कैसे बोतल का बंदोबस्त कर दिया।

उन दिनों मैं नलपत हाउस से कुछ गज की दूरी पर ही 'सर्वोदय' नामक बंगले में रह रही थी। जब मैं दसवें महीने में थी तो मुझे पीने की लत लग गई थी। नशे में मैं अपने जीवन की सारी कड़वाहटें भूल जाया करती और खुश-खुश दिखा करती। एक रात मैं नशे में पड़ी-पड़ी बड़बड़ा रही थी। मेरी बड़बड़ाहट सुनकर मेरे माता-पिता मेरे बिस्तर तक आ पहुंचे।

उस समय मेरे भीतर एक दर्द की लकीर तैर रही थी। गोया समुद्र में कोई ह्वेल मछली अचानक पेट के बल पलट गई हो।

"क्या हुआ बच्चे? दर्द हो रही है? सुना है, तुम सोई-सोई बड़बड़ाती हो आजकल?" पिताजी पूछ रहे थे।

और उसके आध घंटे बाद बच्चा हो गया था। बहुत चीखी थी मैं प्रसव-पीड़ा से। दाई कहती रही कि मुझे आराम करना चाहिए। और मेरे पिता, जो बेआराम और बेचैन हुए नीचे इधर से उधर टहल रहे थे, ऊपर लपक आए थे नवजात शिशु की आवाज़ सुनते ही। घुंघराले बालों वाला बेटा था वह मेरा। हमने उसका नाम रखा था प्रियदर्शन।

मेरी दादी और मेरी सास ने मिलकर मेरी सेवा-टहल की और मैं स्वस्थ हो गई। मुझे चिकन सूप, लीवर सूप आदि चावलों में मिलाकर तले हुए लहसुन डालकर दिया जाता। सुबह को उन्नी अम्मा नाम की नौकरानी मेरे शरीर पर सुगंधित तेल की मालिश किया करती। उस तेल में हल्दी मिली रहती। मेरे शरीर का रंग लाल हो चला था और मैं गुलगुली हो गई थी, लेकिन दीवारों पर के दाग-धब्बे देखते रहने की आदत मेरी अभी तक नहीं छूटी थी।

बम्बई लौटने के बाद तक भी मेरी यह बेचैनी भीतर ही भीतर कहीं बढ़ती ही चली गई थी। मुझे हर समय यह लगता रहता कि मैं भाग छूटूं इस घर और चलती चली जाऊं, चलती ही चली जाऊं इस संसार के अंत तक। तब

शायद वह नहीं सोच पा सकी थी कि इस तरह का मुसाफिर आखिरकार वहीं जा पहुंचेगा, जहां से वह चला था। और यह कि हमारी असली मंजिलें भी शायद वहीं हैं, जहां से हम चलना शुरू करते हैं।

/किसीका वास्तविक संसार वह नहीं होता, जोकि बाहर से दिखता है। असली दुनिया तो उसके भीतर होती है, जो किसी भी तरह नापी नहीं जा सकती; लेकिन इसे सिर्फ वही महसूस कर पाता है, जो अपने भीतर डुबकी लगाकर अपने अनंत आपे को पहचानने की कोशिश करता है।/ तब मैं केवल बीस साल की थी। इन बातों को भला कैसे जान सकती थी! क्योंकर समझ पाती कि भीतर का यह सफर मुझे कहीं नहीं ले जाएगा और मैं इस कहीं न खत्म होने वाली राह पर चलती-चलती हांपने लगूंगी और हांप-हांपकर हलकान हो जाऊंगी।

समुद्र के सूने कगार की ओर जाने वाली सड़क पर हो लेती मैं। अकेली ही जा पहुंचती निर्जन तट पर, और जा बैठती मछुआरों के लिपटे हुए जाल पर। और फिर बैठी-बैठी घंटों निहारती रहती ठाठें मारते हुए सागर को, और महसूस करती उसके भीतर की बेचैनी को, पर होता यह कि मेरी बेचैनी और अधिक बढ़ जाती। शायद मनोरोगी हो गई थी मैं।

लोगों ने मेरे पति को राय दी, "इन्हें किसी अच्छे-से मनोरोग विशेषज्ञ को दिखलाइए न।"

मेरी हालत वाकई बिगड़ चली थी। मुझे तो अपने तन पर के कपड़े भी जंजाल लगने लगे थे। उतार-उतारकर फेंकने लगी थी। मेरी बूढ़ी दादी मुझे ऐसी पगलाई स्थिति में देख-देख रोया करतीं। शायद कहीं उनके भीतर कोई अपराध-बोध भी सिर उठा लेता होगा।

आखिर एक दिन घर में मनोरोग विशेषज्ञ को बुलवाना ही पड़ गया था। उन्हीं दिनों मैंने दो पेंटिंग्ज़ बनाई थीं, जिनमें दैत्यों और सर्पों के क्रीड़ारत युग्म चित्रित किए थे। डॉक्टर ने मेरी जांच करने से भी पहले उन चित्रों की जांच की और साथ ही मेरी निजी डायरी में लिखी कविताएं भी ध्यान से पढ़ीं। फिर उसने नुस्खा लिख दिया। नींद की गोलियां आदि ही लिखी थीं। साथ ही इस बात की हिदायत दी कि मुझे आराम की सख्त जरूरत है और जितना सो सकूं, उतना ही अच्छा।

दो-एक दिन बाद मेरा पति मुझे हवा बदलने के लिए लोनावला ले गया। हम दोनों एक होटल में ठहरे। घनघोर वर्षा होने लगी थी वहां। ठंड भी खासी बढ़ गई थी। पति ने मुझे अपनी गर्म पतलून और स्वेटर पहनाया। गर्म-गर्म चिकन सूप मंगवाकर अपने हाथों से मुझे पिलाया। और फिर मैं घंटों तक उसके सीने पर सिर रखकर पड़ी रही थी—बाहर मूसलाधार हो रही बरसात का छम-छम स्वर सुनती हुई।

२७

जब मैं पहली बार संपूर्ण-समर्पित हुई

उन्माद एक ऐसा देश है
यहीं-कहीं तुम्हारे आस-पास ही
जिसके कगार सदा अँधियारे रहते हैं
पर जब कभी निराशा की नौका
तुम्हें ठेलकर उन अँधेरे कगारों तक ले जाती है
तो उन कगारों पर तैनात पहरेदार
पहले तो तुम्हें निर्वसन होने का आदेश देते हैं
तुम कपड़े उतार देते हो
तो वे कहते हैं अपना मांस भी उघाड़ो
और तुम त्वचा उधेड़कर
अपना मांस भी उघाड़ देते हो
फिर वे कहते हैं हड्डियां तक उघाड़ दो
और तब तुम अपना मांस नोच-नोच फेंकने लगते हो
और नोचते-फेंकते चले जाते हो
जब तक की हड्डियां पूरी तरह नंगी नहीं हो जातीं
उन्माद के इस देश का तो एकमात्र नियम है उन्मुक्तता
और वे उन्मुक्त हो
न केवल तुम्हारा शरीर

बल्कि आत्मा तक कुतर-कुतर खा डालते हैं
पर फिर भी
मैं कहूंगी कि
यदि तुम कभी उस अंधेरे कगार तक जा ही पहुंचो
तो फिर लौटना मत,
कभी मत लौटना···

जिन दिनों मैं मानसिक रोग की शिकार रही, उन दिनों एक अजीब बात हुई, और वह यह कि हम पति-पत्नी एक-दूसरे के करीब आ गए थे। हममें पैदा हुई यह निकटता भले ही शुद्ध शारीरिक थी। हां, तो लोनावला के होटल में ही यह सब शुरू हुआ था। शिराएं शांत रखने वाली दवाइयां खा-खाकर मेरी चेतना पर धुंधला-धुंधला परदा-सा पड़ा रहने लगा था। कुछ ऐसा, जैसे पहाड़ों पर सुबह के समय धुंध छाई रहती है। मेरी ज्ञानेन्द्रियों की हालत कुछ ऐसी हो गई थी, जैसे सांझ के समय कमल अपनी पंखुड़ियां समेट लेते हैं। मेरे अपने संसार के सीमांत धीरे-धीरे धुंधले हो रहे थे।

मेरा पति मुझे गर्म पानी से नहलाता, फिर अपने हाथों से मुझे मर्दाना कपड़े पहनाता, और फिर मुझे अपनी गोदी में बैठा लेता और बड़े प्यार से सहलाता-पुचकारता। मुझे बड़ा अच्छा लगता था उसका कोमल व्यवहार। भले ही यौन भावना का प्रतिरूप था यह—मुखर और आदिम, फिर भी मुझे प्यार का एक अच्छा विकल्प लगा था यह सब।

मैं स्वभाव से शर्मीली थी, इसलिए पहले जब-जब भी वह मुझे निर्वसन करता, लज्जा मेरे अनावरित गात पर एक अन्य त्वचा-सी लिपट जाती, जिससे मेरा अंग-संचालन का वह आकर्षण समाप्त हो जाता, जोकि ऐसे क्षणों में वांछित हो जाता है। उस समय मेरी उघड़ी त्वचा का पोर-पोर एक-एक आंख बन जाता गोया—ऐसी आंख, जो मेरे शरीर को देख रही होती, घृणा से भरी हुई; परन्तु अपने मानसिक रोग के दौरान मुझे लगने लगा कि मेरी वह लाज की केंचुल उतर गई है और जीवन में पहली बार मैंने स्वयं को सम्पूर्ण समर्पित करना सीख लिया है—अपने अहं को बनाए रखते हुए।

लेकिन अफसोस कि इस आदिम जीत का आनन्द मैं बहुत थोड़े समय ही ले पाई, क्योंकि मुझे इलाज के लिए मालाबार भेज दिया गया था। वहां वैद्यजी ने मेरे माथे पर ठंडे-ठंडे लेप लगाने शुरू कर दिए। इस बार मैं नलपत में नहीं, बल्कि सर्वोदय में ठहरी थी। सर्वोदय यानी पिताजी का नया बंगला, जो उन्होंने नलपत के पास ही बनवाया था। आधुनिक ढंग का बंगला था। मेरा अधिकतर समय मेरी कुंआरी सहेलियों के साथ बीतता। बड़ी अलमस्त थीं वे सब। एक दिन मेरी दादी ने मुझसे कहा, "आज की रात अपने पुराने घर में रहो न बिटिया, मेरे पास। हम दोनों रात-भर बातें करेंगे पहले की तरह।"

और उस रात दादी ने रात-भर मेरा इंतजार किया। उन्होंने अपनी खिड़की

में दीपक जलाकर रख दिया था। मुझे रात को खाना खाने के बाद वहां पहुंचना था, लेकिन पिताजी ने मुझे जाने नहीं दिया। खासी तेज हवा चलने लगी थी और पिताजी को यह भय था कि चार सौ वर्ष पुराने नलपत हाउस की चूलें हिलने लगी है, और वह हरहराकर गिर सकता है।

अगली सुबह चार बजे मेरी आंख खुली तो मैंने ऊपर बरामदे में जाकर बाहर देखा, नलपत की ओर। हवा थम चुकी थी, और दादी की खिड़की में जलते हुए दीपक में अभी तक लौ बाकी थी। वह दीपक मुझे बुढ़ापे के अकेलेपन का प्रतीक लग उठा था। दादी ने अपनी उस रात की निराशा का जिक्र मुझसे कभी नहीं किया। शायद वह समझ चुकी थीं कि पोती अब जवान हो गई है और वैसी बच्ची नहीं रह गई, जो कभी रातों को मुझसे चिपटकर सोया करती थी, और यह कि दादी के प्यार की अब उसे जरूरत नहीं रह गई थी।

ऐसी जरूरतों से उभरकर बाहर आ जाना, आगे बढ़ जाना ही शायद असल त्रासदी है, मृत्यु से भी बड़ी त्रासदी। मैं अब उसके लिए अजनबी बन चुकी थी। जवान जो हो गई थी।

फिर जब मैं बिल्कुल ठीक-ठाक हो गई और मालाबार स्टेशन से गाड़ी पकड़ने के लिए कार में बैठने लगी थी तो दादी मेरे पास आई। मुझे लगा कि रो-रोकर उनकी आंखें सूजी हुई थीं। मेरे करीब आकर कहने लगीं, "अप्रैल में आओगी? विशू (केरल का नववर्ष) पड़ेगा न। बोलो बेटी, आओगी न?"

झूठ बोलने में तो माहिर हूं मैं। अपनी हथेलियों में दादी के हाथ थामकर कह दिया था मैंने, "क्यों नहीं दादी, जरूर आऊंगी।"

लेकिन अप्रैल में विशू से पहले ही दादी चल बसी थीं। पुराने विचारों की थीं वे और एकदम शुद्धतावादी भी। मैंने यह कभी नहीं चाहा था कि मेरे सोचने के नये तौर-तरीकों के कारण कभी भी दादी का जी दुखे। शायद इसीलिए उनकी मृत्यु का समाचार सुनकर मेरे भीतर के एक अंश को कहीं भला भी लगा था कि चलो जान छूटी, और दूसरा अंश बेतरह उदास और अकेला भी हो गया था।

अपनी दादी से बढ़कर प्यार मुझे किसीने नहीं दिया था; लेकिन दादी की मौत के एक हफ्ता बाद ही मेरे जीवन में एक सुन्दर युवक आ गया और मैं उसके प्यार में खो गई।

'खार जिमखाना' में मैं अकसर शाम को टेनिस खेलने जाया करती थी। वहीं उससे मुलाकात हुई थी। शाम को टेनिस खेलकर हम लोग इकट्ठे निकले थे। डूबते सूरज की लालिमा में उसकी भूरी आखें चमक रही थीं। वह मुस्करा रहा था कि तभी सहसा मुझे यह आभास हुआ कि मैं उसकी भूरी मुस्काती आंखों के सम्मोहन में बंध गई हूं।

जून का महीना था। पेड़ लदे-फंदे थे। हमारी कॉटेज के छोटे से लॉन में तितलियां मंडरा रही थीं। कुफे परेड के समुद्र-तट के पास एक कॉटेज में ही उन दिनों रह रहे थे हम। उसी कॉटेज के पिछवाड़े 'धुनास्त्र' नामक छ:तल्ला वि

बल्कि आत्मा तक कुतर-कुतर खा डालते हैं
पर फिर भी
मैं कहूंगी कि
यदि तुम कभी उस अंधेरे कगार तक जा ही पहुंचो
तो फिर लौटना मत,
कभी मत लौटना…

जिन दिनों मैं मानसिक रोग की शिकार रही, उन दिनों एक अजीब बात हुई, और वह यह कि हम पति-पत्नी एक-दूसरे के करीब आ गए थे। हममें पैदा हुई यह निकटता भले ही शुद्ध शारीरिक थी। हां, तो लोनावला के होटल में ही यह सब शुरू हुआ था। शिराएं शांत रखने वाली दवाइयां खा-खाकर मेरी चेतना पर धुंधला-धुंधला परदा-सा पड़ा रहने लगा था। कुछ ऐसा, जैसे पहाड़ों पर सुबह के समय धुंध छाई रहती है। मेरी ज्ञानेन्द्रियों की हालत कुछ ऐसी हो गई थी, जैसे सांझ के समय कमल अपनी पंखुड़ियां समेट लेते हैं। मेरे अपने संसार के सीमांत धीरे-धीरे धुंधले हो रहे थे।

मेरा पति मुझे गर्म पानी से नहलाता, फिर अपने हाथों से मुझे मर्दाना कपड़े पहनाता, और फिर मुझे अपनी गोदी में बैठा लेता और बड़े प्यार से सहलाता-पुचकारता। मुझे बड़ा अच्छा लगता था उसका कोमल व्यवहार। भले ही यौन भावना का प्रतिरूप था यह—मुखर और आदिम, फिर भी मुझे प्यार का एक अच्छा विकल्प लगा था यह सब।

मैं स्वभाव से शर्मीली थी, इसलिए पहले जब-जब भी वह मुझे निर्वसन करता, लज्जा मेरे अनावरित गात पर एक अन्य त्वचा-सी लिपट जाती, जिससे मेरा अंग-संचालन का वह आकर्षण समाप्त हो जाता, जोकि ऐसे क्षणों में वांछित हो जाता है। उस समय मेरी उघड़ी त्वचा का पोर-पोर एक-एक आंख बन जाता गोया—ऐसी आंख, जो मेरे शरीर को देख रही होती, घृणा से भरी हुई; परन्तु अपने मानसिक रोग के दौरान मुझे लगने लगा कि मेरी वह लाज की केंचुल उतर गई है और जीवन में पहली बार मैंने स्वयं को सम्पूर्ण समर्पित करना सीख लिया है—अपने अहं को बनाए रखते हुए।

लेकिन अफसोस कि इस आदिम जीत का आनन्द मैं बहुत थोड़े समय ही ले पाई, क्योंकि मुझे इलाज के लिए मालाबार भेज दिया गया था। वहां वैद्यजी ने मेरे माथे पर ठंडे-ठंडे लेप लगाने शुरू कर दिए। इस बार मैं नलपत में नहीं, बल्कि सर्वोदय में ठहरी थी। सर्वोदय यानी पिताजी का नया बंगला, जो उन्होंने नलपत के पास ही बनवाया था। आधुनिक ढंग का बंगला था। मेरा अधिकतर समय मेरी कुंआरी सहेलियों के साथ बीतता। बड़ी अलमस्त थीं वे सब। एक दिन मेरी दादी ने मुझसे कहा, "आज की रात अपने पुराने घर में रहो न बिटिया, मेरे साथ। हम दोनों रात-भर बातें करेंगे पहले की तरह।"

और उस रात दादी ने रात-भर मेरा इंतजार किया। उन्होंने अपनी खिड़की

में दीपक जलाकर रख दिया था। मुझे रात को गाना गाने के बाद वहां पहुंचना था, लेकिन पिताजी ने मुझे जाने नहीं दिया। खासी तेज हवा चलने लगी थी और पिताजी को यह भय था कि चार सौ वर्ष पुराने ननपन हाउस की चूलें हिलने लगी हैं, और वह हरहराकर गिर सकता है।

अगली सुबह चार बजे मेरी आंख खुली तो मैंने ऊपर बरामदे में जाकर बाहर देखा, ननपन की ओर। हवा थम चुकी थी, और दादी की खिड़की में जलते हुए दीपक में अभी तक लौ बाकी थी। वह दीपक मुझे बुढ़ापे के अकेलेपन का प्रतीक लग उठा था। दादी ने अपनी उस रात की निराशा का जिक्र मुझसे कभी नहीं किया। शायद वह समझ चुकी थीं कि पोती अब जवान हो गई है और वैसी बच्ची नहीं रह गई, जो कभी रातों को मुझसे चिपटकर सोया करती थी, और यह कि दादी के प्यार की अब उसे जरूरत नहीं रह गई थी।

ऐसी जरूरतों से उभरकर बाहर आ जाना, आगे बढ़ जाना ही शायद असल त्रासदी है, मृत्यु से भी बड़ी त्रासदी। मैं अब उसके लिए अजनबी बन चुकी थी। जवान जो हो गई थी।

फिर जब मैं बिल्कुल ठीक-ठाक हो गई और मालाबार स्टेशन से गाड़ी पकड़ने के लिए कार में बैठने लगी थी तो दादी मेरे पास आईं। मुझे लगा कि रो-रोकर उनकी आखें सूजी हुई थीं। मेरे करीब आकर कहने लगीं, "अप्रैल में आओगी ? विशू (केरल का नववर्ष) पड़ेगा न। बोलो बेटी, आओगी न ?"

झूठ बोलने में तो माहिर हूं मैं। अपनी हथेलियों में दादी के हाथ थामकर कह दिया था मैंने, "क्यों नहीं दादी, जरूर आऊंगी।"

लेकिन अप्रैल में विशू से पहले ही दादी चल बसी थीं। पुराने विचारों की थीं वे और एकदम शुद्धतावादी भी। मैंने यह कभी नहीं चाहा था कि मेरे सोचने के नये तौर-तरीकों के कारण कभी भी दादी का जी दुखे। शायद इसीलिए उनकी मृत्यु का समाचार सुनकर मेरे भीतर के एक अंश को कहीं भला भी लगा था कि चलो जान छूटी, और दूसरा अंश बेतरह उदास और अकेला भी हो गया था।

अपनी दादी से बढ़कर प्यार मुझे किसीने नहीं दिया था ; लेकिन दादी की मौत के एक हफ्ता बाद ही मेरे जीवन में एक सुन्दर युवक आ गया और मैं उसके प्यार में खो गई।

'प्यार जिमखाना' में मैं अकसर शाम को टेनिस खेलने जाया करती थी। वहीं उससे मुलाकात हुई थी। शाम को टेनिस खेलकर हम लोग इकट्ठे निकले थे। डूबते सूरज की लालिमा में उसकी भूरी आखें चमक रही थीं। वह मुस्करा रहा था कि तभी सहसा मुझे यह आभास हुआ कि मैं उसकी भूरी मुस्काती आंखों के सम्मोहन में बंध गई हूं।

जून का महीना था। पेड़ लदे-फंदे थे। हमारी कॉटेज के छोटे से लॉन में तितलियां मंडरा रही थीं। कुफे परेड के समुद्र-तट के पास एक कॉटेज में ही उन दिनों रह रहे थे हम। उसी कॉटेज के पिछवाड़े 'घुनास्त' नामक छ: तल्ला बिल्डिंग

रिज़र्व बैंक में ही मेरे पति नौकरी करते थे। कुफे परेड का इलाका उन दिनों बिल्कुल सुनसान था।

हमारे इस नये घर में थे दो बेडरूम और एक ड्राइंगरूम। ड्राइंगरूम में किताबें ही किताबें भरी हुई थीं। अपने बेडरूम में पड़ी-पड़ी ही मुझे बाहर के लौहद्वार खुलने का स्वर सुनाई दे जाया करता और द्वार खोलकर भीतर आने वाले की कदमाहटें भी सुनाई दे जाया करतीं। हमारे यहां आने-जाने वाले कोई खास तो थे नहीं। लॉन में तितलियों के पीछे भागते हुए अपने बच्चों को मैं बिस्तर पर पड़ी-पड़ी देखा करती।

सच, कितने सुहाने थे वे दिन! आज सोचती हूं तो विश्वास नहीं होता। एक शाम की बात है। मैं अपने पोर्च की सीढ़ियों पर बैठी अपने कॉटेज के आस-पास की प्राकृतिक छटा निहार रही थी कि मेरा वही भूरी आंखों वाला मित्र हौले से आकर मेरे कदमों में बैठ गया। सिर उठाकर उसने मेरी आंखों में आंखें डाल दीं और उसके होंठ फड़फड़ा उठे। मैं गद्गद हो गई। फिर भी मैंने मुस्करा-कर उससे पूछा, "कहीं तुम्हें मुझसे प्यार तो नहीं हो गया?" इसपर उसने अपना चेहरा मेरी साड़ी में छिपा लिया था। बाहर मेरे बेटे पड़ोस के बच्चों के साथ खेल रहे थे। अन्दर ड्राइंगरूम में मेरे पति अपने दफ्तर की फाइलों में उलझे हुए थे।

हमें अभी इस नये घर में आए कुछ ही समय हुआ था कि मेरे बेटे मोनू को पोलियो हो गया था। इलाज के लिए उसे विले पार्ले में डॉ० पटेल के क्लीनिक ं दाखिल कराना पड़ा। मैं बड़ी चिंतित थी। बच्चे को नित्य तरह-तरह के सें दिए जाते। धीरे-धीरे उसकी तबीयत कुछ सुधरने भी लगी, मगर मेरी बुर हालत हो गई थी। कोलाबा और विले पार्ले के बीच भाग-दौड़ करते-करते थ गई थी मैं। मेरे चेहरे की रौनक तक बिगड़ गई थी। मैं अकसर अकारण ही र दिया करती।

छः वर्षीय मोनू पूछता, "रोती क्यों हो मां? मैं मर जाऊंगा क्या?"

"नहीं बेटे, नहीं, नहीं, नहीं।" उसे अपने सीने से लगाकर मैं बेतरह सि झटक-झटककर कहती।

एक दिन हस्पताल में मुझे मिलने आया वही भूरी आंखों वाला। बेटा उ समय सोया हुआ था। मेरे मुंह से कोई भी बोल न सरक सका। बस, सिर्फ दी थी मैं। उसने मुझे अपने सीने से सटाकर मेरी सीली आंखें चूम ली थीं। बोल "घबराओ नहीं, सब ठीक हो जाएगा।" तभी उसने अपना प्रेम शब्दों में प्रकट किया था।

आज सोचती हूं कि आखिर वह कौन था मेरा? वह, जो मेरे बाल सहल कर मेरे जूड़े में फूल टांक दिया करता था। आख़िर वह चाहता क्या था? द एक बार उसकी बांहों में भरी मैंने कह भी दिया था, "मैं तुम्हारी हूं, ले लो मु

चाहे जैसे भी।" इसपर उसने कहा था, "नहीं, तुम तो देवी हो। तुम्हारे शरीर की पवित्रता नष्ट नहीं करूंगा मैं।"

आज तो नारीमन प्वॉइंट पर ऊंची-ऊंची इमारतें खड़ी हो गई हैं, लेकिन उन दिनों जब मैं भरपूर जवान थी और उस भूरी आंखों वाले से प्यार करती थी, तो यह इलाका उजाड़ था। हम दोनों घंटों घूमा करते, बेमकसद; और घूमते-घूमते मुझे ऐसा लगा करता कि हम दोनों देवलोक से रास्ता भटककर किसी निर्दयी नक्षत्र पर आ पहुंचे हैं।

२८

मैं तो अपना प्यार देने को तैयार थी, लेने वाला ही न था कोई…

अकुलाई हुई गलियों वाला एक शहर…
मगर तपती दोपहरी के ऊंघते सपनों
के छज्जे बैठे कबूतरों की
गुटरगूं तक सुनाई नहीं देती,
अजब-सी चुप्पी साधे बैठे हैं।
और गर्म धूल उड़-उड़कर
उनकी लू-छिली चोंचों पर पड़ रही है।
सूरज है कि फैलता ही जा रहा है
किसी फल की मानिंद
और मेरे दोपहरी-सपनों को
बेरहमी से बींध रहा है अपनी
फलन्न किरणें लंबा-लंबा कर।

हमारे घर के पिछवाड़े वाली उस पुरानी इमारत का नाम धुनास्त्र था। म्युनिस्पैलिटी ने इसे रहने के अयोग्य घोषित कर रखा था।

उसकी दीवारों में बड़ी-बड़ी दरारें पड़ी हुई थीं। बरसात के दिनों में इन दरारों में पीपल की टहनियां फूट पड़तीं।

कभी-कभी दोपहर बाद जब मैं बेचैन हो उठती तो जा निकलती इस पुरानी इमारत तक। टूटी हुई सीढ़ियों पर चढ़ जाती। कई कमरे खोलकर अन्दर के

[illegible]

मुझे यह कल्पना बड़ी भली लगती कि घुनास्त्त कोई भुतहा महल है और रात को यहां प्रेत-नृत्य होते हैं।

जोखिम का मजा लेने की झांझ में मैं चाह उठी थी कि उस खतरे में स्वयं को झोंक दूं। एक बार तो मुझे वहां एक कमरे के अंधेरे द्वार पर खड़े-खड़े अन्दर की आवाजें तक सुनाई दी थी। वे लोग कोंकणी भाषा में बोल रहे थे। सोने के दांत लगे एक आदमी की तो सूरत तक दिखाई दी थी मुझे। उसकी भी नजर मुझ-पर पड़ी लगी थी, लेकिन दूसरे ही क्षण मैं डरकर नीचे भाग गई थी। सीढ़ियां लपकते समय मेरा दिल बुरी तरह धड़क रहा था।

बाद में मुझे अपने दूध वाले से पता चला कि उस उजाड़ इमारत को गैर-कानूनी शराब बेचने वालों ने अपना अड्डा बना रखा था। दूध वाले ने मुझे चेतावनी दी थी, "वहां कभी मत जाना बीबीजी! बड़े जालिम हैं ये लोग।"

मेरे उस भूरी आंखों वाले दोस्त ने दिल्ली से एक खत लिखा था। बड़ा ही ऊलजलूल खत था। मेरे पति के हाथों पड गया था और उसने मुझे पढकर सुनाया था और मेरी प्रतिक्रिया भांप रहा था। खत में लिखा था—'अगर तुम जानना चाहती हो कि मैं तुम्हें कितना प्यार करता हूं, तो आकाश के तारे गिन लो।' बड़ी अजब-सी मन.स्थिति में आ गई थी मैं।

'अभी मैं तो समझता था कि तुम बहुत समझदार हो। आखिर कैसे तुमने इस तरह के गधे को इतना बढ़ावा दिया?'

मैं अपने पति को बता नहीं सकी थी कि उसकी भूरी आखें और प्यारी-प्यारी मुस्कान मुझे किस सीमा तक सम्मोहित किए हुए थी।

मेरे पति ने चश्मा उतारकर मेरी ओर कुछ ऐसी नजरों से देखा कि मैं बेचैन हो उठी थी और उसके उस एक सवाल के पीछे मुझे अनेक अनपूछे प्रश्न लटकते हुए दिखाई देने लगे—मुझे घायल करने को बढ़े आने वाले अदृश्य तीरों की तरह। उन अनपूछे प्रश्नों में से कुछ ये रहे हो शायद—क्या मैं तुम्हें खाने-पहनने को नहीं देता? और यह कि क्या मैं तुम्हारे प्रति हर तरह का दायित्व नहीं निभाता…?

इस घटना के बारे में जब मैंने अपने मित्र को बताया तो वह चुपचाप मुझसे विदा ले चल दिया, परन्तु मेरे अन्तर्घट में तो भावनाएं छलकी पड रही थीं। शायद इसीलिए तेज कदमों लौटते हुए उसकी पीठ देखते समय मुझे वह कहीं कायर भी लगा था। मेरे मन में तो केवल एक ही बात थी कि मैं अपना प्यार देना चाहती हूं; काश, कोई लेने वाला हो।

गोया कोई भीख हो, जो भिक्षा-पात्र की प्रतीक्षा कर रही हो। ऐसा ही था मेरा प्यार, जो ढूंढ़ रहा था किसी पात्र को, जो मुझे ग्रहण कर सके। पूजा के समय तो पत्थर भी भगवान दिखाई देने लगता है। मुझे भी शायद ऐसे परिचित चेहरे की तलाश थी, जो मेरे स्वप्नों के जल में नीलकमल की तरह खिला हु—

था। मुझे उसी अशरीरी व्यक्ति की निकटता प्राप्त करने की वांछा थी, और मैं जिस-किस राह उस तक पहुंचना चाहती थी, परन्तु राह भटक गई थी। भले ही राह भटक गई थी, लेकिन अपनी मंजिल को मैं एक बार भी नहीं भुला सकी थी।

हाल ही में हमारे परिवार के एक मित्र राय देशमुख ने एक पेड़ के बारे में बताया था, "यूनीवर्सिटी के बाग में एक पेड़ है। एक सुबह मैं उधर से निकला तो क्या देखता हूं, पूरा का पूरा पेड़ खुशबूदार फूलों से लदा पड़ा है और मधुमक्खियां उन फूलों से चिपटी रस चूस रही हैं। मैं तो सुबह की सैर को निकला था, लेकिन यह दृश्य देखकर मैं काफी देर रुका रहा। फूलों से लिपट-चिपटकर रस चूसती हुई मधुमक्खियों के सुरीले स्वर सुनने में खो गया। लगा, जैसे कोई मेला देख रहा हूं; लेकिन बहारों के मेले तो तुम जानती ही हो कि बहुत थोड़ी देर के होते हैं। अगली सुबह जब मैं उधर से गुजरा तो न वहां फूल दिखाई दिए और न रसलोलुप मधुमक्खियां। अकेला ठूंठ-सा खड़ा पेड़ और नीचे ज़मीन पर बिछी पड़ी थी फूलों की लाशें।" देशमुख के चेहरे पर पीड़ा उभर आई थी।

यह कहानी सुनकर मैं ज़ोरों से रो पड़ना चाह उठी थी। क्या वाकई इतना ही क्षणभंगुर है सौंदर्य? शायद हां। और मुझे लगा कि मैं ही हूं वह पेड़, और कभी थोड़ी देर को मुझपर भी बहार आई थी। तब जब कि मैं अपने कॉटेज के पोर्च की सीढ़ियों पर बैठी हुई थी और मेरा वही भूरी आंखों वाला मित्र मेरे कदमों में बैठा प्यार-भरी दृष्टि से मुझे निहार रहा था; लेकिन तब मैं क्या जानती थी कि वह बहार इतनी जल्दी पतझड़ में बदल जाएगी और मधुमक्खियां उड़ जाएंगी।

एक दिन की बात है, हमारे दरवाज़े पर किसीने दस्तक दी तो मैंने दरवाज़ा खोला। सफेद झक कपड़े पहने एक विदेशी अजनबी मेरे सामने खड़ा था। इटालियन-सा लगता था। बोला, "मैं कार्लो हूं—तुम्हारा पैन-फ्रैंड (पत्र-मित्र)।"

मैं ठगी-सी खड़ी उसे तकती रह गई थी। शादी के बाद से मैंने किसी भी मित्र को पत्र लिखना बंद कर दिया था। कार्लो को देखकर मुझे आश्चर्य हुआ। उसके बाल चमकदार थे और होंठ भरे-भरे लाल-लाल। उसकी मुंदी-मुंदी-सी आंखें बड़ी ही मादक और उत्तेजक थीं। उसने अपना एक हाथ मेरे ढीले बालों में डालकर मेरे दायें गाल पर एक चुम्बन अंकित कर दिया था। मुझे उसके प्रति कोई शारीरिक आकर्षण अनुभव नहीं हुआ था।

वह उतावले स्वर में कहने लगा था, "अपने ये लहरीले बाल तो संभालो। तुम्हारा चेहरा तो देख लूं साफ-साफ।"

आखिर जब हम हाथ में हाथ लिए अन्दर आए तो मेरी नौकरानी हमें अजब-सी दृष्टि से देखने लगी। उसे किसी भी विदेशी पर विश्वास न था।

जो हो, कार्लो जब मेरे जीवन में आया तो मेरे पेड़ के फूल सारे झड़ चुके थे। मेरी आंखों में छाई प्यार की धुंध हट चुकी थी।

२९

मुझे अभी तक चाह थी अपने उस भूरी आंखों वाले की

बरसाती महीना था जुलाई का
और आकाश की सीवनों में
धुएं-से घने अंधकार तथा
धरती से रिस-रिस उभरती
उमसीली, लिपलिपी सड़ांध में
वह चल रहा था
मुझ से कदम भर के अंतर पर
आगे-आगे
पछवा पवन के झोंके उसके बालों में धंस-धंस
सरकते जा रहे थे
और मैं सोच रही थी
कि काश ! सिर्फ इसका प्यार मिल जाए
तो निहाल हो जाऊं
खुशी के सफेद जंगी घोड़े पर चढ़कर
रौंदती हुई चली जाऊं
इस सारे सड़े हुए
विधि-विधान को।
जो मैं झटक-फेंक पाती

गुरत पाती उनकी छुअन की
स्मृति को
तो फिर चांदी की थाली में परसे
काले फल-सी परोस देती
मैं स्वयं को उसे…
और वह मेरा गोरा विदेशी विजेता
पड़ा-पड़ा तक रहा होता
मुझ परसी हुई को
और मैं उसकी उदास आंखों की पलकें चमका देती
और फिर ईर्ष्या के कड़वे आक्रोश में भरी-पीयी मैं
चीख-चीखकर उसकी नसें झनझना देती,
ठीक उसी तरह जैसे कोई बिल्ली तूफानी कंकर-पत्थर की
चोट से घायल हो रोती-चीखती है।

कार्लो इटली के एक धनाढ्य परिवार का बेटा था, जबकि मैं थी एक सरकारी नौकर की पत्नी, जिसे हर महीने की पहली को उधारी के बिलों का भुगतान करने के लिए जोड़-तोड़ करना पड़ता था।

वह था भी खासा सुरुचिसम्पन्न और पूरी तरह शहरी तौर-तरीकों वाला, जबकि मुझसे गंवईपन अभी तक नाखूनों के मैल की तरह चिपटा हुआ था। उन्नयूरकुलम नाम था हमारे छोटे से गांव का, जिसे छोड़कर हम शहर आ बसे थे। लोक-गीत और अंधविश्वास अभी तक मेरा पीछा नहीं छोड़ रहे थे। मेरे गले में काला तावीज़ बंधा हुआ था। शायद रुष्ट देवताओं को रिझाने के लिए लटका दिया गया था मेरे गले में। मेरे पास गिनती की चार साड़ियां और कुछ एक सूती ब्लाउज़ थे, जिनपर मैंने कढ़ाई-बढ़ाई कर रखी थी ताकि कुछ जंचने लगें।

जिन बड़े-बड़े होटलों में कार्लो मुझे खिलाने ले जाता, वहां के तो छुरी-कांटों, प्लेटों आदि को ढंग से इस्तेमाल करना भी मैं नहीं जानती थी। मेरी हर हरकत में कोई न कोई फूहड़पन टपक जाता तो कार्लो मेरा हाथ अपनी मुट्ठी में भींच-कर कहता, "ओह! नहीं कमला, तुम जैसी हो, वैसी ही रहो। मत बदलो। बम्बई की कुतियां मुझे पसंद नहीं। कम से कम तुम तो वैसी बनने की कोशिश मत करो।"

एक दिन हम टहलते-टहलते एक किताबों की दुकान पर चले गए, वहीं किताबों और लेखकों के बारे में बातें करते-करते मैंने जाना कि मेरी पसंद और उसकी पसंद एक-सी थी। वह भी मेरी तरह चेखव, फ्लोवेयर, मीटरलिंक, मैन्सफील्ड, विर्जीनिया वुल्फ का पाठक था। यही थे हम दोनों के असली मां-बाप। यही लेखक थे, जिनसे हमने जीवन जीना सीखा था, जीवन का सत्य पाया था

और अपना जीवन-दर्शन बनाया था। इसाबेला डंकन से हमने सीखा था कि प्यार तभी अपने चरम रूप में होता है, जब उन्मुक्त होता है ; जब कोई बंधन-बाधाएं न हों, किसीकी परवाह न हो। हम दोनों एक-दूसरे की आंखों में झांकते समय भीतर से कहीं बेचैन हो उठते। वह मुझ से पूछता, "कमला, क्या तुम इसाबेला बन सकती हो ?"

मैं 'ब्लश' कर जाती—लाज की लाली तैर जाती मेरे गालों पर।

"तुम मुझसे ब्याह कर लो।" कार्लो ने कहा, "भूल जाओ न अपने उस भूरी आंखों वाले दोस्त को। छोड़ दो अपने उस पति को, जिसे तुम्हारी परवाह ही नहीं। चलो मेरे साथ मेरे देश।"

"नहीं कार्लो, प्यार ही काफी है। हम-तुम सिर्फ प्यार करेंगे।" मैंने कहा था। शायद उस समय मुझे अपने जीवन की चैन-भरी रातें और अपने नन्हे-मुन्ने याद आ गए थे।

जुलाई सरक गई, अगस्त आ पहुंचा, लेकिन मैं अभी तक अपने उसी भूरी आंखों वाले मित्र की आस लगाए बैठी थी।

"मैं देखने में कैसी हूं कार्लो ? भद्दी हूं क्या ?" मैंने कार्लो से एक दिन पूछा तो वह बोला, "कौन कहता है, भद्दी हो तुम ! इतनी तो सुन्दर हो। भद्दा, भोंडा तो वही आदमी है, जिसके बारे में सोचकर ऐसा कह रही हो।" कहकर उसने मेरी कमर को अपनी बांहों के घेरे में ले अपने साथ सटा लिया और हम दोनों समुद्र की ओर जाने वाली तंग कच्ची सड़क पर चलते चले गए, और वह मुझ से पूछता रहा, "आखिर मेरा भविष्य क्या है ? मेरा कुछ होगा भी कि नहीं ?"

३०

सेक्स और सहकारी आंदोलन

बहुत दिनों से मेरे भीतर,
एक भूख पल रही है।
एक ललक,
जो लपक-लील लेना चाहती है।
जंगल की आग की तरह,
उस सबको,
जो मेरे सामने आता है।
ऐ बच्चागाड़ी में,
बैठे गंजे बच्चे !
तू क्या समझता है कि,
मैं सिर्फ देखती ही हूं ?
और तुम भी सुन लो,
ओ, मेरे छरहरे प्रेमियो !
जो पेड़ की आड़ ले
तांक-झांक रहे हो।
और तू भी सुन ले
ओ, बुड्ढे !
तू, जिसके हाथ में कागज है,

और सिर पर धूप।
मेरी आंखें—
आग की लपटों की तरह,
तुम्हें निगल जाएंगी।
मेरी नसें,
तुम्हें समेट लेंगी,
और जब मैं
तुमसे निपट लूंगी,
तो सुन, ओ बच्चे,
ऐ, मेरे प्रेमियो!
मैं, थूकने लगूंगी
राख!
और, कुछ नही।
लेकिन, मेरे भीतर,
दृश्य, गंधें, और स्वर,
बढ़ते चले जाएंगे,
उभरते चले जाएंगे, और
सोया पड़ा होगा वह, बच्चा
जो कभी, बच्चागाड़ी में बैठा,
पोपली मुस्कानें बिखेर रहा था।
मेरे भीतर चल रहे होंगे,
हाथ में हाथ लिए, प्रेमी।
लेकिन, बुड्ढा कहा बैठेगा?
मेरे भीतर जल रही होंगी,
स्ट्रीट-लाइट्स।
नाच रही होंगी, कैबरे नर्तकियां,
बज रहे होंगे शादी के ढोल,
और रंगीन घाघरों में,
घूमते हुए हीजड़े।
जो गा रहे होंगे, उदास प्रेम गीत
और, मेरे भीतर मर रही होगी एक मां
जिसकी निगाहों में होगी आस,
जो ढूंढ रही होगी अपने उस बच्चे को
जो, अब चला गया होगा,
किसी दूसरे शहर में,
किसी दूसरी की बाहों में।

मेरी :

सन् १९५७ में कुफ परेड का इलाका सुनसान था, और वहां के सब घरों का मुंह समुद्र के दलदली कगारों की ओर था। एस्प्लानेड-तट पर पड़े लोहे की बेंचों पर पारसी सेनीटोरियम में रहने वाले बुड्ढे-बुढ़ियां चुपचाप बैठे रहा करते। एकदम बुत बने धूप सेंकते हुए। वह खैराती सेनीटोरियम था। वहां गरीबों को सिर्फ पांच रुपये रोज पर कमरा मिल सकता था। वहां रहने वाले अधिकतर लोग अवकाश-प्राप्त थे। सो भी ऐसे, जिनके बेटे-बेटियों ने अपने आधुनिक फ्लैटों में उन्हें रखना पसंद नहीं किया होता। हर बूढ़ा चेहरा मुझे अकेला-अकेला-सा लगता। अकसर मैं उन लोगों के पास बैठ जाती, इस उम्मीद में कि शायद कोई अकेलापन भुलाने के लिए ही मुझसे बात कर ले, पर कोई कुछ न बोलता।

बरामदों में बच्चे अपनी मांओं से ज़िद करते, आते-जाते खोमचे वालों से कुछ-कुछ खरीदने को पैसे मांगते। कभी कोई गुब्बारे वाला आ धमकता तो कभी कोई बुढ़िया के बालों जैसे मीठे लच्छेदार गोले बेचने वाला। अकसर उन तंग आई माताओं की ऊंची-ऊंची क्रुद्ध झिड़कियां सुनाई देतीं या चंद चांटों की आवाज़ें। ये औरतें अकसर सफेद फ्रॉक पहने होतीं और जब सौदा-सुलफ खरीदने बाज़ार जातीं तो लम्बी तनी वाले झोले उनकी बांहों में लटकते होते। लगभग सभीके चेहरों पर मुर्दनी-सी छाई रहती, और वे चलतीं तो झोल खाई हुई-सी लगतीं। मैंने मलयालम में उनके बारे में कई कहानियां लिखी थीं। कल्पना ही कल्पना में मैं उनके कमरों में जा पहुंची थी और उनका रहन-सहन देख आई थी।

'मातृभूमि' में जब मेरी ये कहानियां छपीं तो मुझे बम्बई से अपने पाठकों के प्रशंसा-पत्र आने लगे। ऐसा हर खत मुझे तरंगित कर देता। उन दिनों मैंने लिखने के लिए एक तकनीक ईजाद कर ली थी, और वह यह कि मैं अपने हर पात्र का एक घंटे तक पीछा किया करती और फिर उसके विचार लिखा करती। लोगों का अध्ययन करना मुझे अच्छा लगता, क्योंकि मैं उनसे बहुत प्यार किया करती।

अकसर मेरा पति हमारे पारसी डॉक्टर से कहा करता, "पारसियों पर बड़ी कहानियां लिख रही हैं ये।" डॉक्टर हंस देता। डॉक्टर मसानी था उसका नाम। वह अकसर हंसकर मुझे चेतावनी देता, "पारसी पंचायत को पता चल गया तो तुम्हारी खैर नहीं।" शायद डॉक्टर नहीं जानता था कि मैं अपने पात्रों को कितनी कोमलता से चित्रित करती हूं।

लगभग उन्हीं दिनों की बात है कि मेरे भाई मोहन दास ने हमारी रिश्ते की ही एक लड़की से शादी करने का फैसला कर लिया। मुझे अकेली ही शादी में सम्मिलित होने कोचीन जाना था। पति को फुरसत नहीं थी। मुझे अपने चेहरे की कीलों की चिंता हो आई तो मैं उन्हें मिटवाने एक 'ब्यूटी पारलर' (सौन्दर्य-प्रसाधन की दुकान) में जा पहुंची। घन भेलपूड़ी वाले ने यह नई दुकान खोली थी। उस दुकान पर एक विदेशी कर्मचारी थी, जो शायद पोलैण्ड की रहने वाली

थी। नाम था वाल। उसीने मेरे चेहरे पर भाप फेंककर कील निचोड़ डाली थीं। कील निचोड़ डालने के बाद उसने मेरे चेहरे का सांवलापन सोखने के लिए कोई दवाई मली थी, और फिर मुझे ऊपर भिजवा दिया था एक अन्य युवती के पास, जिसका नाम था मिस मास्टर। मिस मास्टर ने मेरे बाल तराशे। यह सब कुछ हो चुकने के बाद जब मैंने आईना देखा तो सोचा : 'अरे! मैं तो एकदम बदल गई हूं।' फिर मैंने एक नीली सिल्क की साड़ी खरीदी—लाल और सुनहरी बॉर्डर वाली।

और फिर अपने बदले हुए चेहरे, तराशे गए बालों और नई बढ़िया साड़ी में सज-संवरकर जब मैं बम्बई के हवाई अड्डे पर कोचीन जाने वाले हवाई जहाज की ओर बढ़ रही थी तो मेरे बाल इधर-उधर झूल रहे थे और मेरा चेहरा सुबह की धूप में सोने-सा दमक रहा था। इत्तफाक की बात कि जहाज में मेरी सीट के साथ बैठा आदमी 'इलस्ट्रेटिड वीकली' का वही अंक पढ़ रहा था, जिसमें मेरी कविता छपी थी। और इससे भी बड़ा इत्तफाक यह कि जब मैं उसके पास बैठी तो वह मेरी कविता ही पढ़ रहा था। फिर जब बातचीत के दौरान मैंने उसे बताया कि मैं ही वह कवयित्री हूं तो वह इतना प्रसन्न हुआ कि मुझे एक टाइपराइटर उपहार में देने की जिद करने लगा। यह अलग बात है कि मैंने मना कर दिया। कह दिया, "आप अजनबी जो हैं। अजनबी से उपहार कोई कैसे ले!"

वह बोला, "लेकिन हर मित्र पहले तो अजनबी ही होता है।"

भाई की शादी से अगले ही दिन मैं बम्बई लौट गई थी। मूसलाधार बारिश हो रही थी और रात काफी घिर आई थी। हवाई अड्डे पर मुझे लिवाने मेरा पति नहीं पहुंचा था। *मैं खोई-खोई-सी महसूस करने लगी थी और मुझे लगने लगा था कि मुझे कोई नहीं चाहता।* तभी मुझे अपनी एक परिचित महिला दिखाई दे गई और उसने अपनी कार में मुझे मेरे यहां छोड़ दिया। जिस वक्त मैं घर पहुंची, बच्चे गहरी नींद सो चुके थे। पति ने सुस्त-सी आवाज में मुझसे पूछा, "इतनी देर लग गई?"

"पर तुम क्यों नहीं आए मुझे लिवाने? मुझे इतना भी प्यार नहीं करते तुम?" कहती हुई उससे सटकर मैं सुबक पड़ी।

वह बोला, "मैं बहुत थका हुआ हूं। नींद आ रही है। सुबह बात करेंगे।"

उसी साल मेरे बेटे मोनू को प्लूरसी हो गई थी। अजब-सी गहरे भूरे रंग की बलगम उगलने लगा था, जिसे मैं तौलिये में इकट्ठा करती रहती और बाद में वह तौलिया गर्म पानी में धोकर साफ कर देती। बहुत ही लेसदार बलगम होती उसकी। डॉक्टर उसे हर रोज 'स्ट्रेप्टोमाईसीन' के इंजेक्शन देता, लेकिन बलगम थी कि खत्म होने का नाम ही नहीं ले रही थी। यहां तक कि जब वह चैन से सोया भी होता, तब भी मुझे उसकी छाती में बज[illegible]गम

की घड़घड़ाहट सुनाई देती रहती।

प्राय: वह रात को हड़बड़ाकर उठ बैठता तो बैठा-बैठा हांफने लगता। सांस लेना मुश्किल हो जाता। चेहरे पर गोया राख-सी पुती होती और आंखें भय से विस्फारित।

मैं हर शाम कोलावा बुक-स्टाल से जाकर उसके लिए कौमिक खरीद लाती ताकि उसके सहारे वह अपनी बेचैनी कुछ तो कम कर सके। उसके सिरहाने हम हमेशा एक ऑक्सीजन सिलेंडर तैयार रखे रहते ताकि जब भी उसे दौरा पड़े, ऑक्सीजन दी जा सके। हर दौरे से उबरने के बाद वह मुझसे चिपट जाता, "मैं मर जाऊंगा न अम्मा ?" मैं उसे अपने सीने से सटा लेती और गर्दन झटक-झटककर कहती, "नहीं-नहीं···नहीं।"

लेकिन मोनू के ठीक होते ही मेरा ध्यान फिर से प्यार, कला और साहित्य की ओर चला गया। मैं खूब पढ़ती। सुबह से बिन नहाए-धोए पड़ी-पड़ी पढ़ती रहा करती। शाम को कहीं जाकर मुझे सुध आती तो मैं थोड़ी ठीक-ठाक हो लेती। मुझे अपने बदन पर तेल-मालिश कराके नहाने का शौक था, लेकिन मैं नहाने के मामले में इतनी सुस्त थी कि मेरी बूढ़ी नौकरानी घंटों मेरी मालिश करती रहती और मैं हाथ में किताब लिए गुसलखाने में लकड़ी के पट्टे पर बैठी उपन्यास पढ़ती रहती। मेरे बेटों को मुझे इस तरह देखकर बड़ा मज़ा आता।

मालिश के लिए मेरा मन-भाता तेल था—'दिनेश बलयाड़ी'। आयुर्वेदिक तेल था यह। कोटाकल स्थित आयुर्वेदशाला से खास तौर पर डाक द्वारा मंगवाया करती थी। मेरा पति कहा करता कि इस तेल की गंध बहुत उत्तेजक है। उसे ही ऐसा लगा करता, क्योंकि उसके दिमाग में हर समय सेक्स की उत्तेजना छाई रहती थी, जबकि उस तेल में ऐसा कुछ नहीं था। मैं उन दिनों दो चीज़ों से बहुत ऊब जाया करती थी। एक तो सेक्स से और दूसरे देश में चल रहे सहकारी आंदोलन से; परन्तु ऊब के बावजूद मैं इन दोनों को ही सह रही थी। शायद यह सोचकर कि इनमें से किसीसे भी छुटकारा नहीं। इतना ही नहीं, मैं तो उलटे इनमें रुचि प्रकट किया करती, जबकि वास्तव में मुझे अरुचि थी।

३१

वह चुपचाप मेरे आगे-आगे चलता रहा

कभी ऐसे भी दिन थे जब
हमारी हविस किसी अनजाने देश के
बहुरंगी झंडे की तरह
हर समय फरफराती रहती थी
हम बिस्तर पर होते थके-टूटे
परस्पर कुछ इस तरह तकते पड़े होते
गोया हमारी आंखें कांच की बनी हैं
और दिखते
मृत शिशुओं के खिलौनों-से
पूछते एक-दूसरे से
क्या हासिल है इस सबसे ?
ऐसा ही था हमारा प्यार।
मात्र शरीरों को नोचने-खसोटने वाला
गोया जेल के कैदी
फोड़ रहे हों मिट्टी के लौंदे।
तपते सूरज तले की धरती-से थे हम।
नसें जल रही होतीं
और पहाड़ों की ठंडी रातें भी

हम जब एकाकार हुए पड़े होते
तब हम नर या मादा न रह गए होते
निःशब्द पड़े रहते
रात की बूढ़ी बांहों में बंदी बन जाते सारे शब्द
अंधकार में ही हम बढ़ते रहते
खामोशी में ही गाते चलते
और हर उदास रात के गीत का सुर
दर्द की तरह उठता हुआ लगा करता—
सागर के सीने में से—
पवन के पंखों से—
और धरती के अंतर से।

नवम्बर में क्योंकि पहाड़ों पर बहुत कम लोग जाते हैं और होटलों के किराये भी कम होते हैं, इसलिए मेरे पति एक बार मुझे और मेरे बेटों को पंचगनी ले गए। वहां हम होटल प्रौसपैक्ट में ठहरे थे। टैक्सी में लंग-सी लाल-लाल चक्करदार सड़क से होते हुए हम वहां पहुंचे।

हमें जो जगह मिली, उसमें दो कमरे, एक बड़ा बाथरूम और एक बरामदा था। बरामदे में बेंत की कुर्सियों पर बैठकर हम सुबह की चाय पिया करते। बच्चे बटर-टोस्ट और ब्रिटानिया बिस्कुट खाते। नीचे घाटी की ओर से आने वाले हवा के हर झोंके के साथ नीचे की आवाजें भी हमारे बरामदे तक आ जातीं। यहां तक कि बैल-ठेले के पहियों की चीं-चीं और बैलों के गले की घंटियों की आवाज़ भी।

जिस दिन हम वहां पहुंचे तो मेरे पति ने कहा, "अब तो भई थक गया हूं। यों भी बहुत देर हो गई है, आज तो घाटी में नहीं जा सकेंगे।" उस रात हमने जल्दी ही खाना खा लिया। बच्चों के बिस्तर भी अपने कमरे में बिछा दिए और होटल के लाल कम्बलों तले दुबककर खूब गहरी नींद सो गए।

अगली सुबह होटल के बैरे ने हमारे दरवाज़े पर दस्तक देकर हमें जल्दी जगा दिया तो मुझे अच्छा ही लगा था, क्योंकि धुंध में लिपटी पहाड़ी भोर देखकर मुझे बड़ा मज़ा आया था। नाश्ता करके हम लोगों ने मोटे गर्म कपड़े पहने और नीचे घाटी का बाज़ार देखने गए। बच्चों के लिए हमने दो टट्टू कर लिए थे और हम दोनों थे पैदल ही उनके पीछे-पीछे। मैं कभी भी अपने पति के साथ कदम से कदम मिलाकर नहीं चल सकी। वह उस दिन भी मुझसे कुछ गज़ आगे चुपचाप चल रहा था।

इस होटल में दोपहर बाद जब सब लोग ऊंघ रहे होते तो मैं चुपचाप उठकर जंगल की ओर निकल जाती और वहां जंगली फूल गिनती रहती और जंगली पक्षियों की चहचहाहटें सुनती रहती।

एक शाम जब मैं होटल लौटी तो मैंने अपने बेटों मोनू और बिन्नन के नाम एक पत्र लिखकर डाक में डाल दिया। पत्र में उन्हें किसीकी ओर से शनिवार की सांझ को एक चाय-पार्टी पर निमंत्रित किया था। होटल में ही पार्क की दीवार के साथ वाले सबसे बड़े पेड़ के नीचे। और निमंत्रित करने वाले किसी उसका नाम मैंने 'स्विवरल' लिख दिया था। बच्चों को जब वह खत मिला तो वे खुश होकर तालियां बजाने लगे। फिर जब शनिवार आया तो मैंने लंच के बाद ही उन्हें सुला दिया और सुलाकर खुद बाहर जाकर शाम की पार्टी का सारा इंतज़ाम किया। उसी पेड़ के नीचे। कागज़ की प्लेटों में पेस्ट्रियां और बादाम सजवाए। और चार बजे जाकर मैंने उन्हें जगाया; कपड़े पहनाए और फिर पार्टी के लिए ले गई।

वहां वे बच्चे अपने मेजबान की तलाश करते रहे, जोकि कहीं भी दिखाई नहीं दे रहा था। पेस्ट्रियां और बादाम उन्हें स्वाद लगे; लेकिन मोनू कुछ निराश था। बोला, "अम्मा, तुम मुझे पक्षियों की भाषा सिखा दो न।" मेरे बच्चों को तब विश्वास हो चुका था कि मैं पशु-पक्षियों की भाषाएं जानती हूं। और तो और, मेरा पति भी यह मानकर चलने लगा था कि मैं पशुओं से बातचीत कर सकती हूं। जब भी कहीं रास्ते में कोई कुत्ता हमारे पास खड़ा होकर दुम हिलाने लगता तो पति मुझसे कहता, "अभी प्लीज़ हटाओ न अपने इस यार को। तुम तो जानती हो कि मुझे कुत्तों से कितनी नफरत है।"

उन्हीं दिनों मेरा मासिक धर्म भी अनियमित हो गया था और मुझे मासिक धर्म के दौरान दर्द भी बहुत होने लगा था। इसी कारण मैं हर रोज़ घाटी की सैर को नहीं जा सकती थी। वे बाप-बेटे चले जाते और मैं होटल की सीढ़ियों पर अकेली बैठी इधर-उधर तकती रहती।

पिछवाड़े के कमरों में एक युवक रह रहा था। उसे बड़ा गंभीर नर्वस ब्रेक-डाउन होकर हटा था और वह अपने नौकर के साथ पहाड़ पर आराम करने के लिए आया हुआ था।

एक शाम जब मैं सीढ़ियों पर अकेली बैठी थी तो वह मेरे पास आकर कहने लगा, "आपको तकलीफ तो होगी, पर क्या आप मेरे नाखून काट देंगी? इसी तरह बढ़े रहे तो मुझे भय है कि मैं किसीको नोच न डालूं।"

मैं उठकर अपने कमरे से कैंची ले आई और फिर उसके नाखून काटने लगी। नाखून कटवाकर उसने मुझे हाथ जोड़कर नमस्कार किया और चल दिया।

एक और कमरे में ६४ साल का एक बुड्ढा ठहरा हुआ था। उसकी याद-दाश्त पूरी तरह खो चुकी थी। उसके बेटे सिंगापुर में थे। अच्छा-खासा व्यापार करते थे। खूब दौलत कमा रहे थे। उन्होंने ही बाप को यहां रखा हुआ था ताकि यहां वह 'सुरक्षित' रहे। और दूसरे लोगों की सुविधा के लिए उन्होंने कमरे के बाहर नोटिस बोर्ड टांग रखा था। बोर्ड पर बाप का पूरा नाम, शुरू में अब तक

का संक्षिप्त परिचय, यानी क्या-क्या किया, कहां-कहां रहे, पैत्रिक स्थान के डाकखाने का नाम, बीमारी का नाम, निकटतम सम्बन्धियों के नाम-पते वगैरह-वगैरह। होटल के ही एक बैरे को वे लोग अपने पिता की देख-भाल के लिए नियुक्त भी कर गए थे ; परन्तु बाप वेचारा अकेला ही पड़ा रहता और खासी बड़ी आरामकुर्सी में गद्दों-घिरा बैठा-बैठा अपनी मिचमिची आंखों से निहारता रहता बाहर पेड़ों को।

किसी-किसी शाम जब मैं अकेलापन महसूस करती तो उसके पास चली जाती और उसके चितकबरे-से हाथ को अपने हाथ में ले लेती। मुझे लगता, जैसे किसी मुर्दे का हाथ मेरे हाथ में आ गया है। उसका तो दिमाग एकदम काम ही नहीं कर रहा था। स्पष्ट था कि उसके भीतर की अंधेरी दुनिया का बाहर के संसार के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं रह गया था। एक दिन मैंने उसे चॉकलेट दिया, लेकिन उसकी कांपती उंगलियों से वह नुचकर गिर गया। उसके नेपाली नौकर ने मेरी उस मूर्खता को भांप लिया था कि मैंने काहे को उसके हाथ में चॉकलेट थमा दिया था।

जब हम लोग उस होटल से अंतिम बार विदा हुए तो हम सूखे हुए जंगली फूल और मेरे पिताजी के लिए साम्बर जूते लेकर चले थे, जबकि वे जूते मेरे पिताजी के पैर में पूरे नहीं आए थे। बहुत तंग थे। जिससे हमने जूते बनवाए थे, उसने अपना पता एक पर्चे पर हिन्दी में लिखकर हमें दे दिया था ; लेकिन वह पर्चा ही हमसे कहीं खो गया था।

पंचगनी में एक महीना बिताने के बाद भी मेरे पति की छुट्टियां अभी पन्द्रह दिन की और बाकी थीं। सो हम लोग मालाबार चले गए थे। मेरे घरवाले हमें देखकर बहुत खुश हुए थे। पहाड़ की धूप ने हमारे तन कांसे जैसे चमका दिए थे।

पिताजी ने उन दिनों बोगनविला फूलों-मढ़े बांसों की मेहराब-सी बनवा दी थी वहां। इस मेहराब से होकर हम बगीचे में जाया करते थे। पिताजी ने बड़े चाव से यह बगीचा बनवाया था। तरह-तरह के फूल उगा रखे थे। बगीचे की झाड़ियां तक फूलों से लदी हुई थीं। दिसम्बर का महीना था। थिरुवथीरा उत्सव का समय था। यह जलोत्सव होता है, जिसे कुमारियां और सुहागिनें दोनों मनाती हैं। पौ फटने से भी दो घंटे पहले तालाब के ठंडे पानी में गाती हुई नहाती, खेलती रहतीं।

पानी की ठिठुरन उनके स्वर तक में भर जाती। मधुर स्वर और अधिक मीठे हो जाते। सोए हुए मर्द जाग जाते और साथ ही जग जाती उनके मन में प्यार की मीठी उमंग और मदन-तरंग। स्नान और जल-क्रीड़ा से निपटकर औरतें होलिका के गिर्द बैठ जातीं। आंखों में काजल आंज के माथे पर चंदन का लेप करतीं, इसपर 'चंथू' का काला टीका लगातीं (चावल जलाकर चंथू बनाते हैं)। फिर अपना शरीर गर्माने के लिए झूला झूलतीं और फिर नाश्ता करके

घर चली जाती। इस नाश्ते में अरारोट का हलुआ और कच्चे नारियल की गिरी खाती।

ऐसा माना जाता है कि थिरुवथीरा उत्सव मनाने से औरतों की सुन्दरता बढ़ती है। असल में यह कामदेव की पूजा का उत्सव है। कामदेव यानी सेक्स का देवता।

३२

सुखद मृत्यु की शुरुआत थी यह

जब मैं सोई होती हूं,
तो बाहर की दुनिया
मेरे लिए हरहराकर गिर चुकी होती है।
और सारे सम्पर्क टूट जाते हैं।
सोचती हूं कि लंबी नींद लूं।
तभी,
यह दुनिया मर सकेगी।
और मैं, बची रहूंगी
सिर्फ बची-खुची चीज़-सी।

जब हम लोग घर से लौटकर बम्बई आए तो मेरा स्वास्थ्य गिरने लगा था। बहुत आराम करती, लेकिन कुछ फायदा न होता। बाथरूम जाती तो पेशाब के साथ लाल-लाल चकत्ते-से फर्श पर गिरने लगते।

मेरे पति ने एक लेडी डॉक्टर को बुलवाकर मुझे दिखाया। उस लेडी डॉक्टर की मुस्कान मुझे बहुत भली लगी थी। शायद इसीलिए उसके सामने एकदम से नंगी हो गई थी। वह मेरा छोटा-सा ऑपरेशन करवाने डॉक्टर शिरोडकर के पास ले गई और ऑपरेशन के बाद अपने नर्सिंग होम।

उसके नर्सिंग होम में सिर्फ तीन कमरे थे, एक हॉल था और एक बरामदा। डॉक्टर का नाम था पंकजम करुणाकरण। नर्सिंग होम के ऊपर की मंज़िल पर

वह रह जाया करती, जबकि उसका बहुत बड़ा बंगला था अंधेरी में, जहां वह सिर्फ इतवार के इतवार ही जाया करती।

मुझे उसने सबसे अच्छा कमरा दे रखा था, सीढ़ियों के नीचे। अपने बिस्तर पर पड़ी-पड़ी मैं बाहर दीवार-पार की खामोश सड़क देख सकती थी।

ऑपरेशन के अगले ही दिन मुझे अपनी जांघों के बीच कुछ गर्म-गर्म-सा चू रहा महसूस हुआ। मैंने देखा तो डर गई। खून ही खून बह रहा था। सोती हुई नर्सों को जगाया। उन बेचारियों ने बहुत कोशिश की कि किसी तरह खून बन्द हो जाए, पर जब नहीं हो पाया तो एक नर्स भागकर डॉक्टर को बुलाने गई।

उस समय मेरे कानों में एक अजब-सा सन्नाटा बज रहा था और मुझे लग रहा था, मेरा जिस्म हल्का होता जा रहा है···हल्का होते-होते शिफौन के स्कार्फ-सा हो गया है और वह स्कार्फ एक चित पड़े जिस्म पर झूल रहा है और उस शरीर में से रक्त की नदी बह रही है। यही वह शुरुआत थी उस सुखद मृत्यु की, जहां तक पहुंचकर संसार की सारी चिंताएं मिट जातीं।

जब डॉक्टर ने आकर मुझे संभाला तो उसकी आवाज़ मुझे दूरागत-सी लग रही थी। मैं उससे कहना चाह रही थी कि मुझे ऐसे रहने दो, सब कुछ ठीक हो रहा है, मैं खुश हूं कि ऐसी स्थिति आ पहुंची; लेकिन न तो मैं कुछ बोल सकी, न देख सकी। तभी मुझे यह एहसास हुआ कि मृत्यु सिर्फ ऐसी चीज़ है, जैसे कि सांझ को कमल अपनी पत्तियां मूद ले—सुबह को फिर से खिल जाने तक के लिए; लेकिन उस डॉक्टर ने जाने क्या-क्या कुछ करके मुझे फिर से जीवन-दान दे दिया। मेरा शरीर जोकि एकदम जम गया था, उसे उसने छू-छूकर पिघला दिया। मेरे कानों में उसके कोमल स्वर भर-भरकर मुझे जीने की आस बंधा रहे थे।

मृत्यु जो मुझे उपहारस्वरूप मिलने वाली थी, डॉक्टर ने उस उपहार को नकार फेंका था; और मेरे मन में डॉक्टर के प्रति एक नया प्यार जन्म लेने लगा था। उसके चेहरे पर मुझे एक ऐसी राहत की खुशी खिली दिखती, जो किसी की जान बचा लेने पर किसीके मन में उभरती है। उसके ऐसे खिलेपन पर मैं लुट जाती। उसके बाल सहलाती, गाल चूमती। कुछ ऐसी नजरों से तकती उसकी ओर गोया उसे पहली बार देख रही हूं।

"क्या है? इस तरह क्यों तक रही हो मुझे?" डॉक्टर पूछती।

उस-सी दयालु औरत मुझे और कोई नहीं लगी थी। उसके मरीज़ उसकी प्रशंसा करते अघाते नहीं थे। मैं जब थोड़ा चलने-फिरने लायक हो गई तो अपने कमरे की खिड़की के पास आकर बैठ जाया करती और वहीं से बैठी-बैठी देखती मरीज़ों की लगी लाइनें। कई बेचारियां तो अपनी गोदी के बच्चों को कूल्हे पर अटकाए खड़ी होतीं। कूल्हे पर बच्चा और हाथ में दवा की शीशी—विचित्र होता वह दृश्य। गरीबों से तो वह डॉक्टर पैसे भी नहीं लेती थी, लेकिन मजे की बात यह कि उन्हें यह एहसास भी न होने देती कि उनपर कोई एहसान कर रही है। उलटा उन्हें ऐसा एहसास करा देती कि वह जो कुछ भी कर रही है, मित्रतावश

ायब हो गए थे। मैं अपने पति से अकसर कहा
से इश्क हो गया है जैसे।"
हीं, औरत है वह भी, कोई खतरा नहीं।"
व्यक्तियों पर अनेक कहानियां लिखी थीं, जो मुझे
भी मेरी कोई ऐसी कहानी किसी पत्रिका में छपती
डरूम में जा लेटती और पढ़ने लग जाती। उन दिनों
ों उमग पड़ती। मेरी कविताएं 'इलस्ट्रेटिड वीकली' में
लिक के० दास के नाम से। वहां मैं इस नाम से इस
देह था कि संपादक को अगर यह पता लग गया कि
ी कविताएं न छापे। 'इलस्ट्रेटिड वीकली' का
श था। उसका नाम था सीन मैंडी। खासा सुलझा
था वह। जब भी कभी वह मेरी कोई कविता
ा कारण अवश्य लिख भेजता। मैं उससे मिलने
गुलमोहर' रेस्तरां में वह दोपहर का खाना खाया
ाने की कल्पना किया करती। सोचा करती कि मुझ
उलझ जाएगा।
पर आमंत्रित कर लेता तो मुश्किल हो जाती मेरे
देती, क्योंकि मेरे पास तो कोई ढंग का कपड़ा ही
ो? मलयालम पत्रिकाओं से भी जो पारिश्रमिक
कतावें खरीदने में ही उठ जाता, नये कपड़े कहां
ां मैं खासी फूहड़ दिखती, एकदम भिखमंगी-सी।
ो गुलाबी ब्लाउज़ थे, सो भी घर में सिले और
ं थीं तो ऐसी कि जहां-तहां भद्दे पैबंद लगे हुए थे।
ठी मैं कतई अच्छी नहीं लग सकती थी। उलटे उस
लगता मेरे बैठने से।
ॉवी बन चली थी। हर सप्ताह दो कहानियां लिखने
भेज देती—डाक-टिकटों के पैसे पति से उधार

लेकर। 'मातृभूमि' से मुझे प्रति कहानी बारह रुपये आया करते। एक कहानी में मुझे पूरी रात लग जाती। दिन में बच्चे जगते रहते, इसलिए तब तो लिख पाना असंभव होता।

और मैं अपनी कहानी की काट-तराश करती सुबह छः बजे के लगभग, जब घर के लोग गहरी नींद से सोकर उठते। मैं दोपहर बाद दो-एक घंटे सोकर अपनी नींद पूरी कर लिया करती; लेकिन अकसर उसी समय मेरी अड़ोसनें-पड़ोसनें आ धमकतीं—कपड़ों-लत्तों के बारे में बतियाने। मुझे बड़ा नागवार गुज़रता।

सुबह को जब बेटे स्कूल चले जाते तो मैं बैठकर पेंटिंग बनाने लगती। तैल-चित्र ही बनाती, सो भी केवल औरतों के। नामे बन पड़ते। ये चित्र मैं अकसर अपनी सहेलियों को भेंट कर दिया करती, किसी न किसीके जन्मदिन पर। एब्स्ट्रैक्ट आर्ट (अमूर्त कला) तब तक फैशन में शामिल नहीं हुआ था। नया-सा कुछ लगता था। अतः मेरी सहेलियां खुशी-खुशी मेरे चित्र अपने ड्राइंगरूम की दीवारों पर सजा लेतीं।

ये मेरे जीवन के अच्छे दिन थे। स्वास्थ्य भी ठीक चल रहा था। दिखने में भी खासी लगती। पढ़ने को पुस्तकें भी जुटा लेती और प्रतिभा तो, खैर, थी ही मुझमें।

हमारी बिल्डिंग का नाम था 'गुलिस्तां', जिसका चौकीदार था एक गोरखा। सुबह-सुबह ही वह अपने नेपाली गीत की तान छेड़ देता। खासा मुर्कियोंदार स्वर था उसका। सुनकर मेरी आंख खुल जाती। नेपाली तानों में पहाड़ों की धुंध और अकेलेपन का त्रास मिल-जुलकर घुमड़ता आता। वह गोरखा नल-तले नहाते समय गाया करता, और उस समय हम अपने बिस्तरों पर पड़े-पड़े सुना करते—जल-स्वर में गुंथी हुई संगीत-लहरी; और हमारी खिड़की से बाहर का आकाश धीरे-धीरे पीलापन ओढ़ता चला जाता।

३३

और मेरी दादी नहीं रहीं

एक घर है,
जो बहुत पीछे छूट गया
जहां कभी मुझे प्यार मिला था,
पर मर गई है अब वो प्यार देने वाली।
और, उस घर को निगल गई है खामोशी,
सरसराते हैं वहां सांप किताबों पर,
जिन्हें तब मैं, पढ़ नहीं सकती थी,
छोटी जो थी,
और मेरा रक्त चन्द्रमा की तरह घूमता था।
कितनी बार सोचती हूं, हो आऊं वहां,
झांक आऊं,
उन खिड़कियों की अंधी आंखों में,
या सिर्फ सुन आऊं,
उनके भीतर जमी हवा की सरसराहट।
या फिर निराशा की वहशत में,
कौली भर समेट लाऊं वहां का अंधकार,
और यहां पड़ी रहूं उसे लिए-लिए,
अपने बेडरूम के पिछवाड़े,

हांपते कुत्ते की तरह।
तुम्हें, विश्वास नहीं आएगा, प्रिय,
कर पाओगी यकीन ?
कि मैं कभी रहा करती थी ऐसे ही एक घर में,
जिससे बहुत प्यार था मुझे,
और था उस पर गर्व भी,
मैं जो राह भटक गई हूं,
और अब,
अजनबी द्वार खटखटा-खटखटा,
मांग रही हूं भीख प्यार की
शायद पैसा दो पैसा भर मिल ही जाए, कहीं से
मिलेगी क्या ?

बड़े दादा की अचानक मौत के बाद दादी चल बसी थीं। दादी की मृत्यु के बाद नलपत हाउस के द्वार बंद कर दिए गए थे। नौकरों-चाकरों को छुट्टी दे दी गई थी। इतनी आहिस्ता से बंद कर दी गई थीं वहां की खिड़कियां, गोया किसी लाश की आंखें मूंद दी हों।

उन्हीं दिनों मेरी पड़नानी को मेरे माता-पिता अपने साथ ले आए थे— 'सर्वोदय' नामक घर में। उस घर के निचले तल्ले में पूरब की ओर वाला बेडरूम उन्हें दे दिया गया था और वह बेचारी चुपचाप वहां पड़ गई थीं। ऊंचे-ऊंचे आम के पेड़ों की छाया में था यह घर, लेकिन उन पेड़ों की पत्तियों में से दिखता था नलपत और उसके अंधेरे कमरे और वहां भागते हुए चूहे तथा बाहरी दीवारों पर रेंगती हुई सफेद चींटियां। एकदम समाधि-सा लगने लगा था वह घर।

मेरी पड़नानी में दुःख झटक फेंकने की क्षमता बिलकुल वैसी थी, जैसी बच्चों में हुआ करती है। पुराने घर की मौत का मातम उन्होंने अधिक दिन तक नहीं मनाया था। मुझे ठीक याद है कि जब उनकी अपनी बेटी की मृत्यु हुई थी तो उन्हें सोते से जगाकर लिवा ले जाया गया था और वे बड़ी कमजोर-सी आवाज में थोड़ी-बहुत प्रार्थना-सी करके झट से स्नान करने चल दी थीं।

वह पुन्नयोरकोट्टा के राजा की एकमात्र बेटी थीं। हमारे परिवार में केवल वही एक बेटी थीं, जो हाथी पर बैठकर मन्दिर जाया करती थीं। जब भी कोई नायर लड़की रजस्वला होती थी तो उसे तीन दिन तक काले कम्बल पर सफेद चादर बिछाकर नितांत अकेली बैठाया जाता था। उसे पूरे जेवर पहनाए जाते थे और कांसे का एक आईना दे दिया जाता था, जिसमें कि वह अपना प्रतिबिम्ब निहार सके।

चौथे दिन उसे घर से बाहर निकाला जाता और एक जुलूस-सा बनाकर औरतें उसे ले जातीं तालाब पर नहलवाने, जहां खूब हो-हुल्लड़ और हंसी-मजाक होता। स्नान के बाद औरतें उसकी आंखों में काजल आंजतीं, माथे पर

३३

और मेरी दादी नहीं रहीं

एक घर है,
जो बहुत पीछे छूट गया
जहां कभी मुझे प्यार मिला था,
पर मर गई है अब वो प्यार देने वाली।
और, उस घर को निगल गई है खामोशी,
सरसराते हैं वहां सांप किताबों पर,
जिन्हें तब मैं, पढ़ नहीं सकती थी,
छोटी जो थी,
और मेरा रक्त चन्द्रमा की तरह घूमता था।
कितनी बार सोचती हूं, हो आऊं वहां,
झांक आऊं,
उन खिड़कियों की अंधी आंखों में,
या सिर्फ सुन आऊं,
उनके भीतर जमी हवा की सरसराहट।
या फिर निराशा की वहशत में,
कौली भर समेट लाऊं वहां का अंधकार,
और यहां पड़ी रहूं उसे लिए-लिए,
अपने बेडरूम के पिछवाड़े,

हांपते कुत्ते की तरह।
तुम्हें, विश्वास नहीं आएगा, प्रिय,
कर पाओगी यकीन ?
कि मैं कभी रहा करती थी ऐसे ही एक घर में,
जिससे बहुत प्यार था मुझे,
और था उस पर गर्व भी,
मैं जो राह भटक गई हूं,
और अब,
अजनबी द्वार खटखटा-खटखटा,
मांग रही हूं भीख प्यार की
शायद पैसा दो पैसा भर मिल ही जाए, कहीं से
मिलेगी क्या ?

बड़े दादा की अचानक मौत के बाद दादी चल बसी थीं। दादी की मृत्यु के बाद नलपत हाउस के द्वार बंद कर दिए गए थे। नौकरी-चाकरों को छुट्टी दे दी गई थी। इतनी आहिस्ता से बंद कर दी गई थीं वहां की खिड़कियां, गोया किसी लाश की आंखें मूंद दी हों।

उन्हीं दिनों मेरी पड़नानी को मेरे माता-पिता अपने साथ ले आए थे—'सर्वोदय' नामक घर में। उस घर के निचले तल्ले में पूरब की ओर वाला बेडरूम उन्हें दे दिया गया था और वह बेचारी चुपचाप वहां पड़ गई थीं। ऊंचे-ऊंचे आम के पेड़ों की छाया में था यह घर, लेकिन उन पेड़ों की पत्तियों में से दिखता था नलपत और उसके अंधेरे कमरे और वहां भागते हुए चूहे तथा बाहरी दीवारों पर रेंगती हुई सफेद चींटियां। एकदम समाधि-सा लगने लगा था वह घर।

मेरी पड़नानी में दुःख झटक फेंकने की क्षमता बिलकुल वैसी थी, जैसी बच्चों में हुआ करती है। पुराने घर की मौत का मातम उन्होंने अधिक दिन तक नहीं मनाया था। मुझे ठीक याद है कि जब उनकी अपनी बेटी की मृत्यु हुई थी तो उन्हें सोते से जगाकर लिवा ले जाया गया था और वे बड़ी कमजोर-सी आवाज में थोड़ी-बहुत प्रार्थना-सी करके झट से स्नान करने चल दी थीं।

वह पुन्नथोरकोट्टा के राजा की एकमात्र बेटी थीं। हमारे परिवार में केवल वही एक बेटी थी, जो हाथी पर बैठकर मन्दिर जाया करती थी। जब भी कोई नायर लड़की रजस्वला होती थी तो उसे तीन दिन तक काले कम्बल पर सफेद चादर बिछाकर नितांत अकेली बैठाया जाता था। उसे पूरे ज़ेवर पहनाए जाते थे और कांसे का एक आईना दे दिया जाता था, जिसमें कि वह अपना प्रतिबिम्ब निहार सके।

चौथे दिन उसे घर से बाहर निकाला जाता और एक जुलूस-सा बनाकर औरतें उसे ले जातीं तालाब पर नहलवाने, जहां खूब हो-हुल्लड़ और हंसी-मजाक होता। स्नान के बाद औरतें उसकी आंखों में काजल आंजतीं, माथे पर

चंदन लेपतीं, गालों पर कच्ची हल्दी लगातीं, और पान खिलातीं। गांव-भर को जिमाया जाता। औरतें कोट्टिकल्ली नृत्य करतीं। वहीं गांव के युवकों को उस लड़की को देखने का अवसर मिल जाता, जोकि विवाह योग्य हो चुकी होती। सातवें दिन उसे एक दूर के मंदिर में ले जाया जाता।

मेरी पड़नानी ग्यारह साल की उम्र में ही रजस्वला हो गई थीं। हाथी पर चढ़कर मन्दिर गई थीं। वड़े ठाट से 'अमाड़ाकूट्टम' (गले का एक गहना, जो उरोजों का ऊपरी भाग ढके रहता है) पहने हाथी के हौदे पर वैठी थीं और आगे-आगे चल रही थीं उनकी वांदियां—'हो-हो' करती हुई, नीच जात के लोगों को राह में पड़ने से हटाती हुई।

साल-भर के अन्दर-अन्दर ही उनकी शादी हो गई थी, चिरालयमन के राजा के साथ। गठा वदन था उस राजा का और मोटे-मोटे कामुक-से होंठ थे। उन्नीस साल की होते न होते एकदम ठंडी पड़ गई थीं वह; और अपनी नन्ही-सी वच्ची को लेकर अपने मायके लौट आई थीं। किसीसे कुछ कहा-सुना नहीं था। वेहद सफाईपसंद थीं वह। मैं अकसर देखा करती थी कि वह वड़ी ही सतर्कता से दिन में दो-तीन वार अपने पैरों के नाखून साफ किया करतीं। तव मुझे यहां तक संदेह हो जाया करता कि कहीं उनकी इस सीमा तक की सफाई-पसंदी ही तो इनकी गृहस्थी को नहीं ले डूवी। मैं तो यहां तक सोच जाती कि इन जैसी सफाईपसंद औरत वीर्य और रज-स्खलन को गंदगी मान घृणा से मुंह फेर लेती होंगी।

हर काम ठीक समय पर करने की तो गोया सनक थी उन्हें। हमारी दीवार-घड़ी पर जहां वारह घंटे टनटनाते, वह अपने कमरे से उठकर चल देतीं दोपहर के खाने के लिए। खातीं वह भले ही वहुत ही कम थीं। कभी-कभी हम लोग उनका मखौल उड़ाने के लिए घड़ी की सुइयां एक घंटा आगे कर देते, लेकिन वह ठीक वारह की टनटनाहट सुनते ही भूख-भूख करती वाहर निकल आतीं। जव हम असलियत वतलाकर हंसने लगते तो वे भी हमारे साथ हंस देतीं। कतई कोई वनावट न होती उनकी हंसी में। एकदम वच्चों की सी निश्छल हंसी। वह अकसर नौकरों के साथ वतियाने लगतीं; उनकी घरेलू समस्याओं पर वात करतीं और उन समस्याओं को सुलझाकर उन्हें वड़ी खुशी होती।

तभी मेरे पिताजी को कालीकट में एक अखवार के सम्पादक की नौकरी मिल गई और वह हमें लेकर कालीकट चले गए। उनके जाने के वाद वह वृद्धा वास्तव में समस्या वन गई थीं। वह हमारे साथ कालीकट जाना चाहती थीं, लेकिन मेरी मौसी ने मेरी मां को यह राय दी थी कि उन्हें उनके साथ उनके घर भेज दें। कुछ ही फलांग के फासले पर तो था ही वह घर। माताजी किसी भी सम्वन्धी की भावनाओं को ठेस पहुंचाना नहीं चाहती थीं। उन्हें वड़ा भय लगा करता ऐसा करते; पर अपनी वहन की वात को भी वह नकार न सकी थीं, सो मेरी मौसी उन्हें अपने साथ ले गईं।

मौसाजी प्रसिद्ध राजनीतिक नेता थे। कांग्रेस के एम० एल० ए०। आए दिन घर में मेहमानों का मेला-सा लगा रहता। खाने-पीने में प्रायः देर-सबेर हो जाती और दाल-सब्जियों पर मिर्चें ही मिर्चें तैरती रहतीं। साथ में पकती तली हुई मछली, मांस और बिरियानी। पड़नानी बेचारी तो थीं शाकाहारी, भला कैसे सह सकती थीं ऐसी-ऐसी गंधें। धीरे-धीरे भूख ही मर गई थी उनकी तो। दिनों-दिन कमजोर होती चली गईं। चुप्पी-सी साध ली थी उन्होंने, जो अंत में मौत की खामोशी बन गई थी। उनकी मौत के कई साल बाद माताजी ने अपनी ग्लानि मुझसे कही, "अपनी नानी को उस तरह निकाल देने का मुझे बड़ा ही पछतावा है। सदा सालता ही रहेगा मुझे। इसका बोझ मेरी छाती पर बराबर बना हुआ है कि मैंने क्यों भेज दिया था उन्हें? क्यों न अपने साथ ही ले गई थी कालीकट? पर जाने क्यों उस समय मेरी मति मारी गई थी, जो बहन का कहना मान लिया था! उसका मन रखना चाहती हूंगी शायद।"

मैं भी तो अपनी पड़नानी को प्रायः ही याद करती रहती हूं। कैसी दुबली-पतली-सी थीं बेचारी! और यह कि कैसे फालतू सामान की तरह पटक दिया गया था उन्हें। ओह! शायद बूढ़े लोगों की नियति ही यही है कि कूड़े-कबाड़ की तरह फेंक दिए जाएं, क्योंकि ऐसे में किसीको जरूरत जो नहीं रहती उनकी। बोझ जो बन जाते हैं सबपर। मैं तो भगवान से प्रार्थना करती हूं कि हे भगवान, मुझे चलती-फिरती को ही उठा लेना, कहीं मेरा भी ऐसा ही अंत न हो। बस, तभी तक जीना चाहती हूं, जब तक मेरी जरूरत है और किसीको मेरी चाहत है।

३४

वह बार-बार मुझे फोन करता

ऐ, सुहाने शहर !
मैं तुमसे विदा लेती हूं
मेरी वयस्क आंखों के भीतर कहीं
किसी कोने में लुके बैठे हैं आंसू
और उदासी किसी नदी-तल में पड़े
पत्थर-सी खामोश है···
खिड़ी-बिखरी चाह और बारिश को भीतर आने से रोकने को
बंद की गई खिड़कियों के पल्लों के उस पार दिखती
धुंधली परछाइयो !
अलविदा, अलविदा, अलविदा !
और अलविदा ऐ, पूनम की रातो !
मैंने सदा अवहेला है तुम्हें,
कभी प्यार नहीं किया ना !
अलविदा तुम्हें भी
ऐ, समुद्र-तट पर बतियाती भीड़ पर मांस-भूखे झपट्टे मारती
चीलो और गिद्धो !
ऐ सुहाने शहर !
मैं तुमसे विदा लेती हूं

अब तुम अपने आंसू, क्षोभ और मुस्कानें
रख लेना औरों के लिए
जो जवान हों,
जिनकी आंखें आकर्षक हों
उन्हें ही देना अब तुम अपनी वेदनाएं
जिनके जूड़ों में चमेली के फूल गुंथे हैं
और जड़े हैं गनमे-सितारे
उन्हें ही देना अब तुम
अपने मुर्दाघरों में जड़ी मरमरी सिलें
और सड़क चलतों के क्षणभंगुर ठहाके···
अलविदा ऐ आवाजो !
अलविदा ऐ गलियो !
अलविदा ऐ होंठो !
जिन्हें मैंने कभी चूमा है तो सिर्फ सपनों में।
अलविदा ऐ फूल से प्यारे बच्चो !
जो मेरी कोख से जन्मे हों।···

बैंक वालों का एक संयुक्त कोर्स बंबई में आयोजित किया गया था—सन् १९६२ में। कई देशों से बैंकों के प्रतिनिधि आ जुटे थे। उनमें एक था, जो स्वयं को स्पेनिश कहता था। हर शाम हमारे यहां खाना खाने आया करता।

वह चावलों में आमलेट और सॉस मिलाकर बड़े चटखारे ले-लेकर खाता। मंझोला कद था उसका। लोहरंगी भूरे बाल। मुनक्के जैसी आंखें। धूर्ततापूर्ण दृष्टि से तका करता मेरी ओर। आंख भी मारा करता।

एक दिन मुझे सिर-दर्द हो रहा था तो उसने मेरी गर्दन के पिछले भाग पर अपनी उंगलियों से कुछ इस प्रकार मालिश-सी की कि मेरा दर्द हवा हो गया और मुझे नींद-सी आने लगी। वह बोला था "मैं सम्मोहन विद्या भी जानता हूं।"

वह तरह-तरह के चुटकुले, मजाक और किस्से-कहानियां सुना-सुनाकर हमें बेतरह हंसाता रहता। मेरा पति उससे बड़ा खुश था।

"दास ! इन्हें एक गिलास पानी ला दो ना !" वह मेरे पति से कहता।

और फिर जब पति चला जाता तो वह हौले से मेरे गाल चूम लेता।

मैं तत्काल उठ खड़ी होती।

वह मद्धम-से स्वर में कह देता, "तुम मुझे बिलकुल भी प्यार नहीं करतीं क्या?"

हम तीनों गोल्डा रेस्तरां में भी जाया करते। वहां एक नीरस-से स्वर में रोतड़े-से गीत गाने वाला गायक भी था, जिसके गाने मुझे सुनने पड़ते।

हमारा वह विदेशी मित्र नाचता भी अच्छा था। जब भी रेस्तरां में नृत्य शुरू हो जाता, उसके लिए बैठना कठिन हो जाता। मुझसे कहता, "उठो, मैं तुम्हें नाचना सिखाऊं।" और फिर हम दोनों जाकर नाचने लगते। मेरा पति उन्हें

आंखों से हमें देखता बैठा रहता।

किसी-किसी शाम तो वह जैसे चर्च गेट भर के चमेली के फूल खरीदकर बटोर लाता मेरे लिए। फिर मेरे जूड़े में मढ़ देता सारे फूल। फूल टांकता हुआ फुसफुसाता, "तुम तो मेरी दुल्हन हो। मेरी प्यारी-प्यारी दुल्हनिया।"

मेरा पति इन सब बातों पर कोई खास ध्यान न देता। कारण, एक तो वह आदमी मेरे बाप की उम्र का था; दूसरे, मैं इस काबिल ही न थी कि किसी पुरुष को आकर्षित कर पाती।

और उन विदेशी प्रतिनिधियों में से एक था काले बालों वाला युवक। नाम था कार्लो। होटल में ठहरा हुआ था। उस युवक पर तो मैं मर ही मिटी थी। वह भी मुझसे बेतरह प्यार करने लगा था। इस सीमा तक कि वह मुझसे शादी तक करना चाह उठा था। भले ही मेरा कामुक पति मौजूद था।

जो हो, उन दिनों मेरी बड़ी अजीब हालत थी। लगता, जैसे मैं हर समय सत्ता के नशे में झूम रही हूं। मैंने अपने बाल भी तरशवा लिए थे और बाल बाहने का ढंग भी बदल दिया था। शाम को मैं सफेद साड़ी और काला ब्लाउज़ पहनने लगी थी। मेरा स्वास्थ्य भी उन दिनों इतना बढ़िया हो गया था कि मेरे पसीने तक से कस्तूरी की सी गंध आने लगी थी।

उन दिनों हम अपने नये फ्लैट में चले गए थे। 'घुनास्त्र' नामक बिल्डिंग के पांचवें तल्ले पर था यह फ्लैट। हमारे फ्लैट के बरामदे के सामने जापानी दूतावास पड़ता था। वहां के बगीचे में चार बड़ी-बड़ी संगमरमर की मूर्तियां लगी हुई थीं।

सुबह को नहाने के बाद मैं अपने बरामदे में जा खड़ी होती। तेज़ हवा के झोंकों से मेरे कपड़े फरफराते। बड़ा अच्छा लगता मुझे। एक दिन हमारे टेलीफोन की घंटी खड़खड़ाई तो मैंने रिसीवर उठाया और मुझे अपरिचित स्वर सुनाई दिया। वह बोला, "मैं कोई भी हूं, मेरा नमस्कार स्वीकार करना। पिछले कई हफ्तों से मैं दूर-दूर से आपको देख रहा हूं। मुझे प्यार हो गया है आपसे।"

मैंने हड़बड़ाकर रिसीवर रख दिया। आतंकित हो गई। फिर मैं आईने के सामने जा खड़ी हुई थी, यह देखने के लिए कि क्या मैं वेश्या-सी दीखती हूं? या कोई चालू-सी औरत नज़र आती हूं? जैसे कि मैं अपने पति से ऐसी हर बात बता दिया करती थी, सो मैंने फोन वाली यह बात भी कह दी। उसने सुनकर कंधे कुछ इस ढंग से बिचका दिए, जैसे कोई बात ही न हो।

उसके बाद वह आदमी बार-बार मुझे फोन करने लगा। फोन में सिक्का डालने की आवाज़ आती, इससे मैं समझ गई थी कि वह किसी 'पब्लिक बूथ' से फोन करता है। एक दिन मैंने तंग आकर इस मामले को निपटा देना चाहा तो मैंने उसे अपने घर आने को कह दिया। वह आया तो उसने बड़े विनम्र स्वर में कहा, "क्षमा कीजिए, मैं जब भी आपको देखता हूं तो मुझे अपनी पत्नी की याद ा जाती है। मैं अपनी गुस्ताखियों की माफी चाहता हूं।"

उन दिनों मैं जितनी प्रसन्नचित्त थी, उस स्थिति में किसीकी कैसी भी गुस्ताखी माफ कर देना मेरे लिए बहुत सहज था।

उन्हीं दिनों मेरे पति का तबादला हो गया और हमें तीन साल के लिए कलकत्ता जाना पड़ा।

इससे मेरी सारी शांति भंग हो गई थी। कारण कि मेरा छोटा भाई उन दिनों एम० बी० बी० एस० करने के बाद बम्बई में एम० डी० की पढ़ाई कर रहा था। बाल-रोग-विशेषज्ञ बनना चाहता था। दूसरा कारण यह कि मुझे अपने प्रिय मित्रों को छोड़कर जाना पड़ रहा था।

लेकिन मेरे पति के दफ्तर के अफसर हमें कलकत्ता भेजने पर तुल ही गए थे। बम्बई के प्लेटफॉर्म पर मेरा बड़ा भाई जब मुझे छोड़ने आया तो वह रो दिया था। रूमाल से आंसू पोंछते हुए उसने हमें विदा दी थी। हमें विदा करने आए लोगों में एक मेरा चचेरा भाई भी था। वह हौले से मेरे कान में फुसफुसाया था, "देखो, तुम अपने ससुराल के शहर जा रही हो, जरा चौकस रहना। वे लोग बड़े मक्कार हैं। तुम्हें जैसे घूमने-फिरने की आदत है, वे लोग बर्दाश्त नहीं कर पाएंगे। और सुनो, उनसे न तो ज्यादा खुलना और न ही दबकर रहना।"

३५

कलकत्ता की काकटेल पार्टियां

ओफ ! कैसी शराब है यह
शराब है कि
तपते हुए सूरज को ही
नारंगी की तरह मसलकर
मेरे गिलास में निचोड़ दिया है, किसीने ?
घूंट-घूंट पीती चली जाती हूं
पीती ही चली जाती हूं
और अब,
यह कैसा मज़ेदार ज़हर है
यह, जो बहने लगा है मेरी नस-नस में,
रसमसाने लगा है, मेरे मस्तिष्क में
और, खिलखिलाने लगा है मुझको ?

ऊंघने लगी हैं मेरी सारी चिंताएं,
उठ रहे हैं मेरे गिलास में,
छोटे-छोटे बुदबुदे—
किसी दुल्हन की,
कंपकंपाती मुस्कान से,

और ये बुदबुदे,
आ लगते हैं मेरे होंठों से,
मुझे क्षमा कर दो, प्रिय
कि इस क्षण की,
मुन्दगी में,
चाह उठी हूं तुझको
ओफ ! किस कदर
धुंधला गई है स्मृति।
कितनी क्षणिक है यह मेरी चाह
कितना भंगुर है यह मेरा भक्तिभाव
और कितना स्वल्प है तुम्हारा
मुझ पर अधिकार
जब मेरे हाथ में होता है गिलास
और मैं,
पीती चली जाती हूं, पीती चली जाती हूं।
उन तपते सूरजों का रस…

कलकत्ता बीस से अस्सी साल के बीच की उम्र के 'बच्चों' के लिए एक खेल के मैदान-सा है। यहां सर्दियों में कॉकटेल पार्टियों (शराब पार्टियों) का मौसम होता है। इन पार्टियों में भाग लेने वाले व्यक्तियों में आम तौर पर होते हैं—उद्योगपति, विदेशी कम्पनियों के अफसर और सरकारी अफसर। सरकारी अफसर बेचारे यूं तो शराब-वराब का खर्चा बर्दाश्त नहीं कर सकते, इसलिए ऐसी पार्टियों में दूसरे के खर्च पर मज़ा लेते हैं।

और ये सरकारी अफसर साथ में ले आते हैं अपनी मूर्ख पत्नियों को, शायद यह सोचकर कि उनकी पत्नियों की सुन्दरता पर मोहित हो जाएंगे पार्टियों में आए अमीर लोग ; और इन अमीर लोगों को ऐसी 'सरकारी पत्नियों' से मिलकर प्रसन्नता होती है। खास तौर पर जवान और तरोताज़ा औरतों से। वे उन्हें शेरी या बरमाउथ शराब के गिलास थमाकर बार-बार बड़े मीठे अंदाज़ में कहते हैं, "लीजिए ना, और लीजिए ना। अभी तो आपकी आंखों में वह चमक ही पैदा नहीं हुई, जो पीने के बाद आती है…"

और जब कोई ऐसी मूर्ख महिला दो-एक पैग पी चुकती है तो वह अमीर आदमी उसके करीब सरक आता है और छा जाता है उसपर। फिर कटाक्ष कर फुसफुसाता है उसके कान में, "कैसे गुलाबी लग रहे हैं आपके गाल आज तो! आपकी सुन्दरता से तो मेरी आंखें ही चुंधिया रही हैं।"

ऐसे में वह औरत सहम जाएगी और उसकी आंखें पति को तलाशने लगेंगी; लेकिन पति खड़ा होगा हॉल के किसी दूसरे कोने में किसी उद्योगपति से जापान की गीशा लड़कियों के बारे में बातें करता हुआ। जबकि वह उद्योगपति बड़ी

चौकसी से अपनी पत्नी को घर छोड़ आया होता है। या फिर उस सरकारी पत्नी का पति बैठा होगा दूर किसी कोने में अपने गिलास में नया पैग उड़ेलता हुआ।

शराब के प्रति पति की ललचाहट और अपने प्रति उसकी अवहेलना देखकर पत्नी के मन में एक विचित्र-सी वितृष्णा जन्म लेने लगती है। ऐसे में वह और अधिक पीती चली जाती है। इस कारण नहीं कि शराब पीना उसे अच्छा लगता है, बल्कि वह मन ही मन अपने पति को कोसती चली जाती है कि ऐसी घटिया पार्टी में वह मुझे क्यों ले आए।

शराब ज़्यादा चढ़ जाती है तो वह भागती है बाथरूम की तरफ़ और वहां वाश-बेसिन में उलट देती है सब खाया-पिया। तभी आ घुसता है बाथरूम में वह मेज़बान या कोई भी और कामुक पुरुष और मसलने लगता है उसकी पीठ और पोंछने लगता है उसका मुंह। ऐसे में उसका हाथ उस औरत के हर नाज़ुक अंग पर फिसलने लग जाता है और उसका पति दर्जन-भर पैग पी चुकने के बाद बाहर किसी सोफे पर औंधा पड़ा नशीले स्वप्न देख रहा होता है।

ऐसे औंधे पड़े आदमी को घर ले जाना क्योंकि असम्भव हो जाता है, इसलिए बेचारी पत्नी वहीं किसी कोने में टसुए बहाती बैठ जाती है और कोई न कोई गैर मर्द उसे दिलासा देता हुआ उसके शरीर पर हाथ फेरता रहता है और कानों में कुछ फुसफुसाता रहता है।

ऐसे ही खेल-खिलवाड़ आए दिन होते रहते हैं कलकत्ता की ठण्डी रातों में, और ऐसे खिलाड़ी एक नम्बर के झूठे होते हैं। झूठ तो जैसे उन्हें घुट्टी में ही पिला दिया जाता है। ऐसे भोले-से बनकर धोखा देंगे कि कोई अंदाज़ न लगा सके। ऐसे ही किसीने मुझे पहले तो प्यार-भरे शब्दों में फुसलाकर आलिंगन में ले लिया था और बाद में मेरे बारे में तरह-तरह की बातें फैला दी थीं। मानवीय अच्छाइयों के प्रति मेरी आस्था पहले-पहल कलकत्ता में ही डोली थी।

वहां हमारा एक पड़ोसी था। अधेड़ मगर तगड़ा। मैं अक्सर अपने पति के साथ उसके यहां जाया करती। वहां हमें मज़ेदार उपमा (चावल और आलू को कूट-पीसकर बनाई गई खाद्य वस्तु) खिलाया करता। भेल का शर्बत भी पिलाता करता। हम उसे अंकल कहा करते। कभी-कभी वह मुझे संस्कृत भी पढ़ाया करता, लेकिन उसके उच्चारण से मुझे हंसी आ जाया करती

एक बार मैं बीमार पड़ गई। वायु रोग हो गया था। वह हमारे यहां आया। मेरी जिस टांग में वाय का दर्द था, उसपर उसने मालिश की। मालिश करता हुआ वह अपने दफ्तर के सहयोगियों की ऊटपटांग बातें सुना-सुना मुझे हंसाता रहा।

उसने मुझे कभी मेरा नाम लेकर नहीं पुकारा था। पता नहीं क्यों मुझे हमेशा गायत्री ही कहा करता। उसे हिन्दू धर्मशास्त्रों में रुचि थी। जब मेरे ससुराल वालों ने मुझे और उसे लेकर बातें करनी शुरू कर दीं तो मेरे मन में एकाएक उस बूढ़े आदमी के प्रति वितृष्णा पैदा हो गई, जबकि होनी चाहिए थी

उन घटिया बातों के प्रति।

तब मैं उससे कतराने लगी थी। जब भी मैं उसे अपने घर की ओर आता देख लेती, तो झट से बाथरूम में जा छिपती और ऐसा प्रकट करती, जैसे मैं घर में ही नहीं हूं। एक दिन उसने गेंदे का हार लाकर मेरे चित्र पर टांग दिया। अपना वह चित्र मैंने स्वयं ही बनाया था और उसे अपने ड्राइंगरूम में लगा रखा था। उसकी यह हरकत देख मैं लाल-पीली हो गई।

वह पूछने लगा, "खफा क्यों हो रही हो मेरी बच्ची?"

मैंने कोई जवाब नहीं दिया। उसपर सहसा इतनी लाल-पीली हो उठने के कारण मेरा पति भी परेशान हो गया था। कहने लगा था, "जाने कैसी-कैसी ऊल-जुलूल हरकतें कर बैठती हो तुम!"

उन दिनों मैं सिर्फ लुंगी पहना करती थी और ऊपर काली कमीज। तब लुंगी का फैशन नहीं था। शायद इसीलिए मेरे सम्बन्धी और मित्र मुझे कामुक समझने लगे थे। मैं अपने चेहरे पर कोई मेकअप नहीं करती थी। हमारे पास इतना पैसा ही नहीं था कि मैं अच्छे कपड़े खरीद पाती। और जब भी कहीं से कुछ आ जाता तो मैं सारे पैसों की किताबें खरीद डालती।

पार्टियों-वार्टियों में जाने के लिए मेरे पास सिर्फ तीन सिल्क की साड़ियां थीं, सो भी वे जो मुझे शादी में मिली थीं। दो नारंगी रंग की और एक हरी। जब-जब भी मैं वही-वही साड़ियां पहनकर पार्टियों में जाती तो औरतें मुझे देख हंसतीं; लेकिन तब मुझे इस बात का एहसास नहीं था।

भले ही मेरी साड़ियां घटिया थीं, लेकिन लेखिका के रूप में मेरे प्रशंसक पाठकों की ढेरों चिट्ठियां हर रोज आतीं। दर्जन-भर पाठक तो ऐसे थे, जो जान छिड़कते कोई कमी नहीं थी। थे मुझपर। लेकिन फिर भी जाने क्यों मुझे कलकत्ता से डर लगता था। चाहती थी, वहां से पलायन कर जाऊं।

कलकत्ता आने के बाद पहली ही गर्मियों में बम्बई से हमारे एक परिचित सज्जन का कलकत्ता आना हुआ। जिस होटल में वह ठहरा था, वहीं उसने अपने कमरे में मुझे नाश्ते पर निमंत्रित किया। वह खासा समझदार और पढ़ा-लिखा था, और यह मेरी कमजोरी थी कि मुझे साहित्य पर बातचीत करने के अलावा और किसी भी विषय पर बात करना इतना अच्छा नहीं लगता था। अतः उसके पास बैठ-बतियाकर मुझे राहत भी मिली और खुशी भी; लेकिन तभी क्या देखती हूं कि सहसा उसका हाथ मेरी जांघ के करीब सरकने लगा है, फिर आहिस्ता से आकर मेरी जांघ पर टिक गया है।

मुझे लगा, यूं ही हो गया होगा, मगर फिर उसका हाथ धीरे-धीरे मेरी जांघ के नीचे तक सरसराने लगा। मैं चौंकी, अरे, यह क्या हो रहा है! हालांकि कई पुरुष मुझसे प्यार कर चुके थे, लेकिन किसीने भी सेक्स की इच्छा व्यक्त नहीं की थी। मुझे हमेशा ऐसा ही प्यार मिला था, जैसे कोई अपनी छोटी बहन को दे; लेकिन उस आदमी की हरकतों ने मुझे अचम्भित कर डाला। फिर धीरे-

धीरे उसकी यह आदत ही बन गई थी कि बातों के दौरान अपनी हथेली मेरी जांघों पर पटकता रहता और मेरे लम्बे बालों को दुलारता रहता। मैं लगभग उससे प्यार करने लग गई थी।

एक दिन वह मुझे अपनी बांहों में भरकर चूमने लगा तो मैं चुपचाप खड़ी रही। कोई प्रतिकार नहीं किया मैंने, लेकिन जब उसने मुझे छोड़ा तो मैंने उससे पूछा, "क्या तुम मुझे प्यार करते हो?"

वह बोला, "तुम मुझे अच्छी लगती हो।"

जब मैंने अपने पति को यह बात बताई तो उसने मुझे ऐसे आदमी से बचकर रहने की चेतावनी दी। कहने लगा, "यह तो अपने सिवा किसीको प्यार कर ही नहीं सकता। और तू तो अभी, हमेशा बच्ची ही रही। ठीक है, प्यार-व्यार का खेल खेलना चाहती हो तो खेलो, लेकिन कुछ तो सोच लिया करो कि किससे खेलूं। मैं नहीं चाहता कि जीवन में तुम कभी कोई ठोकर खाओ।"

३६

मैं थी कालों की सीता

ओ परदेसी,
मैं तुम्हारे विचारों की सड़क पर
फैली पड़ी एक ऐसे पशु की लाश हूं
जिसके भीतर का सब कुछ बाहर निकल फैला पड़ा है,
एक बड़े पोस्टर की तरह।
यही मैं हमेशा से चाहती रही हूं,
लेकिन, जो कुछ मैं कर सकी
वह यह कि बंद गली में विलीन हो गई,
और दिखती रहीं मेरी सिर्फ ये आंखें।
खैर, छोड़ो,
मैंने बरसों लगा दिए हैं,
अपने मन को तलाशने में—
चमड़ी तले, मांस तले, हड्डियों तले,
पर कहीं नहीं टटोल पाई मैं,
फैला दिया है मैंने अपना दो-आयामी
संसार—
साप्ताहिकों, मासिकों, त्रैमासिकों के पन्नों पर,
कितना दुस्सह बलिदान है यह,

है न !
दूर धकेले रही अपनी निजी आवाज़ को
और अपना लिया था टाइपराइटर की टिक्-टिक् को
टिक्-टिक्, टिक्-टिक् का स्वर ही हर समय मैं
तुम्हारे कानों में उड़ेलती रही ओ परदेसी !
भले ही तुम्हें मेरी ज़रूरत नहीं
पर मैं ही तुम्हारे पीछे पड़ी रही
जाने क्यों ! …

मेरे पिताजी सदा ही एकदम सूफी-से रहे हैं। अकसर मुझे कहा करते हैं, "अपने यहां कभी किसीको शराब-वराब की दावत मत देना। घर में यह सब नहीं होना चाहिए।"

परन्तु मेरे मन पर गोदे गए सारे निषेधादेश धीरे-धीरे धुंधले पड़ते चले गए। गंगा पर से उठने वाली तेज़ हवाओं ने निगल लिए थे वे सारे गुदे हुए शब्द, और मैं बन गई थी एक उद्दंड बेटी।

समाज मुझसे पूछ सकता है कि जो कुछ भी मैं बन गई, आखिर कैसे और क्यों बनी ? इतने उच्चादर्शों वाले माता-पिता की संतान होने के बावजूद भी क्योंकर ऐसी हो गई मैं ? कैसे बदल गई इतनी ? पर यह सब पूछना हो तो पूछो उन मृत या जीवित लेखकों से, जिनका मुझसे संवाद रहा है और जिन्होंने मुझे 'मैं' हो जाने का साहस दिया। गो-माता-सी उनकी पुस्तकों ने मेरे विचार की बछड़ी को दूध पिलाकर पाला-पोसा और फिर छोड़ दिया इस समाज की बलिवेदी पर—बलि के बकरे की तरह।

उन दिनों मेरे घर में पूजा-वूजा नाम की कोई चीज़ नहीं हुआ करती थी। मेरी ज़ुबान से भगवान का मधुर नाम कभी नहीं निकला था। पति अकसर बाहर दौरों पर ही रहता। जब वह घर पर भी होता तो मेरे-उसके बीच कोई भी मानसिक संपर्क स्थापित न हो पाता। अगर कभी मैं अपने मानसिक संताप की बात ले भी बैठती तो वह विषय बदल देता और उठकर चल देता।

एक दिन जब मुझसे अपना अकेलापन बिलकुल ही झेलते न बना तो मैंने कार्लो को पत्र लिख दिया। उसकी राय चाही थी। लिखा था कि मैं अब जीना नहीं चाहती। महीनों तक उसने कोई जवाब नहीं दिया था। मैंने सोचा, वह भी भूल गया मुझे ! वही, जो मुझे सीता कहा करता था और कुछ इस तरह का व्यवहार किया करता मुझसे, मानो मैं सचमुच ही कोई देवी हूं ! शायद ब्याह के बाद बदल गया हो वह !

लेकिन एक सुबह जब मेरा पति दफ्तर जा चुका था और बच्चे स्कूल, तो मेरे रसोइये ने आकर कार्लो के आने की सूचना दी, "कोई गोरा आया है आपसे मिलने।"

फिर जब मैं ड्राइंगरूम में गई तो देखा, वहां पुराने सोफे पर बैठा था कार्लो,

नाना कभाउ पहन।

रसोइया तक रहा था हमें, पर्दे के पीछे से। मैं सहम गई थी उसे। अन: बेचैनी-सी महसूस करने लगी थी। कार्लो ने खड़े होकर अपना हाथ मेरी ओर बढ़ा दिया। मैंने कहा, "आओ, बरामदे में चलें। बहुत बढ़िया पिंगपोंग टेबल लगा रखी है हमने।" फिर बरामदे में बैठकर हमने कुछ मिनट तक अजब-सा खेल खेला। उसके बाद कार्लो ने मुझे बरामदे के ही बाहर बड़ी जगह पर अपने पास बैठा लिया।

वह कुछ दुबला हो गया था। उसके होंठों के इर्द-गिर्द कुछ फीकापन-सा बढ़ गया था। वह बोला, "तुम तो भारी हो गई हो। सांवली भी। खानाबदोश-सी लगती हो।" कहके वह हंस दिया, और फिर पूछने लगा था, "हां, तो यह बताओ, तुमने मुझे बुलाया किसलिए था ?"

मैंने कहा, "पता नहीं क्यों !"

उसी सप्ताह एक प्रसिद्ध उपन्यासकार भारत के दौरे पर आया था। कलकत्ता आ पहुंचा। वह मेरे पति का रिश्तेदार था। रिश्ते में लगते ही हमारे एक भाई ने इसके लिए एक कॉकटेल पार्टी का आयोजन किया था। मुझे भी जाना पड़ा। उस उपन्यासकार का पूरा दिन मेरे साथ बीता। हम लोगों ने दोपहर को खाना खाया। ठंडी बीयर की कई बोतलें पी, और फिर शाम होते-होते मेरे सिर में दर्द शुरू हो गया। लेकिन मुझे पार्टियों में आना-जाना अच्छा लगता था, खास तौर पर ऐसी पार्टियों में जाकर खुशी होती, जहां कि लेखकों से मुलाकात हो ; लेकिन उस पार्टी में मेरे रिश्ते का एक देवर बड़ा ही शरारती था। बार-बार अपनापन जता-जताकर वह मुझे और-और पिलाता रहा। आखिर हुआ यह कि मैं एकदम नशे में हो गई।

लेकिन फिर भी वह यही कहता, "देखो भाभी, अपनी खेला हो जाएगी। और लो न ! ऐसे में तुम कितनी सुन्दर दिखती हो !" कहकर वह हंसने लगता। और मैं एक और गटक जाती। आग-सी जलने लगी थी मेरी आंखें। और मेरी नसों के घुपलके में एक अट्टहास तैर गया, कुछ इस तरह, गोया मछलियां पकड़ने वाली फदती हों। और आखिर जब मैं उन सबसे विदा लेकर अपनी गाड़ी में बैठी तो मुझे लगा कि मुझे अपने घर बच्चों के पास इस हालत में नहीं लौटना चाहिए।

इसलिए मैं उस होटल में चली गई, जहां कार्लो ठहरा हुआ था। होटल की लिफ्ट में ऊपर जाते समय जब लिफ्ट में लगे आईने में मैंने अपना तपता हुआ चेहरा देखा तो लगा, गोया ग्रहण लगा चांद देख रही हूं। मैं डर गई, बेचैन भी हो गई ; लेकिन फिर जैसे ही मैं कार्लो के कमरे में पहुंची तो उसने मुझे अपनी बाहों में उठा लिया और ले जाकर बिस्तर पर लिटा दिया। फिर तौलिया गीला कर-करके मेरा मुंह पोंछने लगा। यूडिकोलोन की सुगंध आ रही थी उस तौलिये में से, और वह पूछ रहा था, "क्या हुआ तुम्हें ? किसने बना दी तुम्हारी

यह हालत ?"

"ओह ! कार्लो, वहुत दुखी हूं मैं, वेहद दुखी।" कहते ही मैं फफक पड़ी और उसके दोनों हाथों को अपने हाथों में वेतरह जकड़ लिया था।

वह वोला, "कोई वात नहीं, उठ जाओ, अपने वाल-वाल ठीक कर लो, मैं तुम्हें घर छोड़ आता हूं।"

हमारे घर के दरवाज़े पर मुझे छोड़कर जव कार्लो विदा होने लगा तो वोला, "अव एकदम सहज होकर भीतर जाना।"

और फिर मैं वरामदे में जा वैठी। मुझे पछतावा भी था और शर्म भी महसूस हो रही थी। कार्लो के शव्द उस समय मुझे निरर्थक लग रहे थे। और आकाश पर तव कोई भी सितारा दिखाई नहीं दे रहा था।

३७

जब कलकत्ता में मैंने पहली-पहली बार हीजड़े नाचते देखे

वह मटका घूम-घूम
नाच लेती और फिर
मटकाता है
पर बायां हाथ फिराता है
मोटी जांघ पर
अंधेरी कंदरा-सा है
उसका खुला मुंह
और टेढ़े दांत हैं उसके।
मचल रहे हैं हमारे मन
प्यार करने को
नाचते हैं बेतहाशा
मगर वासना की—
कीच पर ही
फिसलते-भटकते
रह जाते हैं।
सोचती हूं
यह आदमी
जो चोटी-चोटी

मेरी जांघ मसलें
रहा है, इसके
पपोटे तो बस
खाल की अलसाई
भूख भर छीलकर
रह जाएंगे···
और क्या कर पाएगा यह ?
उफ !
क्या होगा हमारा
कौन देगा सहारा
हमें···मुद्दतों संग
रहकर भी कर न
सके प्यार परस्पर !
हृदय रहे खाली हौज़
सरीखे इन लंबे
मिलन-पलों में भी
और कुण्डलियां
मारे पड़े रहे चुप्पियों
के सर्प ।
मैं तो खैर अवल,
हूं इतनी इस 'काम'
के लिए···
अलग बात है वह कि
ओढ़ लेती हूं
भड़कीली हवस
कभी-कभी
दिखावे भर को···

१९६३ में मुझे 'पी० ई० एन०' नामक अन्तर्राष्ट्रीय लेखक संगठन की ओर से 'एशियान पोयट्री प्राइज' (एशियाई काव्य पुरस्कार) मिला। उस पुरस्कार की राशि से मैंने पहली बार बैंक में अपना खाता खोला, और फिर दो दिन के अन्दर-अन्दर लगभग आधी रकम निकलवाकर अपने कपड़े-वपड़े सिलवा लिए। फैशन-वैशन करने का मुझे कभी भी शौक नहीं रहा। जानती जो हूं कि कोई भी बनाव-शृंगार मेरा हुलिया नहीं संवार सकता। कपड़े, अलबत्ता, मैं ढंग के पहनना चाहती हूं।

फुल्कारी प्रिंट वाली लुंगियां और काली पापलीन की कमीज़ें पहनना मुझे अच्छा लगता था। इस लिवास में मेरे ऊपरी धड़ का भारीपन कुछ छिपा रहता

है। मुझे लाल मनकों वाले कंगन और कांच की लाल चूड़ियां पहनना पसंद था। विदेशी सेंट मुझे बिल्कुल अच्छे नहीं लगते, क्योंकि वे एल्कोहल डालकर बनाए जाते हैं। मैं तो नहाते समय पानी में इत्र डाल लिया करती थी। साबुन की जगह मैं चाक-वृक्ष की सिली हुई छाल लगा करती थी, जिससे मेरी खाल का सारा मैल खुरच जाता था। मेरी खाल चिकनी है। इसी कारण मैं अपनी उम्र से छोटी दीखती हूं। और शायद इसी कारण बड़ी उम्र के आदमी मेरी ओर अधिक आकर्षित होते हैं, क्योंकि वे अत्यधिक बनी-ठनी और तड़कीली-भड़कीली औरतों से और उनसे फूटने वाली महकारों से ऊब चुके होते हैं। और मैं ऐसे आदमियों की ओर इसलिए खिंच जाती थी कि मुझे वे देवतार लगते थे। और उनमें एक खास किस्म का आकर्षण भी होता है। उनके शरीर से स्वच्छ महक उठती है। वे जानते हैं कि कैसे ज़रा-सी तारीफ करके किसी लड़की को भरमाया जा सकता है।

अक्सर इतवार को हमारे यहां आने वाले ऐसे आदमियों में से एक का चेहरा अंग्रेज अभिनेता स्टेन लारल से मिलता था। लारल मेरा और मेरे बेटों का प्रिय अभिनेता था। वह आदमी भी लारल की तरह हमें हंसाता रहता—हमारे बरामदे में बैठकर जिस-तिस की नकलें उतार-उतारकर। मेरा पति जब दौरे पर गया होता तो मुझे और बेटों को घुमाने ले जाता, हमें आइसक्रीम और चॉकलेट खिलाता और किसी छोटे-मोटे रेस्तरां में भी ले जाता, जहां धूमिल-से प्रकाश के धुएं की लकीरें तैरती रहतीं।

मैं उसका आभार मानती कि वह हमें घुमा-फिरा तो लाता है, वरना तो किसीको हमारी रत्ती-भर परवाह ही नहीं थी। पति तो इतना व्यस्त रहता कि हमें कहीं घुमाने ले जाने की सोच भी न पाता। उतने पैसे भी तो नहीं थे उसके पास।

जब-जब भी वह बूढ़ा आदमी हमें घुमा-फिराकर घर छोड़ जाने लगता तो दरवाज़े पर रुककर मेरे गालों पर लार टपकाते चुंबन अंकित करने लग जाता। बाद में मैं अपने गीले गाल झटपट पोंछ डालती। कुसूर मेरा ही था, जो उसे इतना बढ़ावा देती थी; पर मैं भी क्या करती! कोई न कोई ऐसा चाहिए था, जो मेरे नन्हे-मुन्नों को घुमा-फिरा लाता। मगर एक दिन जब उसने खाकी कागज़ में लपेटकर मुझे एक अश्लील पुस्तक दी तो मैंने तय कर लिया कि अब उससे दोस्ती खत्म कर दूंगी। वह भी भांप गया था। खासा तेज़ जो था। इसलिए बिना कुछ कहे-सुने ही हमारी मित्रता टूट गई।

कुछ आदमी ऐसे भी थे, जो या तो मेरे पति के कामकाज से सम्बन्धित थे या फिर मेरे पिताजी के दोस्तों में से थे, जिन्हें मैं बचपन से ही 'अंकल' कहती चली आई थी। मगर वे 'अंकल' लोग भी कुछ ऐसे ही चले थे जब कि जब भी कभी मौका पाते, दरवाज़े की आड़ में मुझे भींच लेते—बड़े ही लचर ढंग से, और अजब-सी निगाहों से तकने लगते मुझे। मुझे नफरत थी उनसे। अक्सर मैं

पति से कहा करती, "चलो, भाग चलें कलकत्ते से और यहां के घटिया माहौल से।" लेकिन उसके कानों में जूं तक न रेंगती।

कवि, चाहे जैसे भी हों, अन्य लोगों से हटकर होते हैं। वे दुकानदारों की तरह दुकान बढ़ाकर घर नहीं लौट आते। उनकी दुकान तो है मन, जो हर समय खुला रहता है और झेलता रहता है सारे-सारे दबाव और संताप। कवि का कच्चा माल मिट्टी और पत्थर नहीं, बल्कि उसका अपना व्यक्तित्व होता है। मैं कभी एक क्षण के लिए भी अपने आपे से, अपनी स्थिति से पलायन नहीं कर पाई थी। बड़ी भावुक थी मैं। ज़रा-ज़रा-सी बात मुझे लग जाया करती। मेरे भावनात्मक जीवन को लेकर तरह-तरह की अनुचित बातें लोग-बाग उड़ाते रहते। जब भी कोई ऐसी बात उड़ती-उड़ती मुझ तक पहुंचती, तो मैं घायल बच्चे की तरह घंटों रोती रहती। प्राय: किसी न किसी शुभचिंतक सम्बन्धी के माध्यम से ही मुझ तक वह बात पहुंचती। मैं बिस्तर पर पलसेटियां मार-मारकर रोती-रोती प्राय: बहुत बेचैन हो जाती तो नींद की गोलियां खा पड़ जाती।

जब मेरी मानसिक स्थिति काफी कमज़ोर हो गई तो मेरे कुछ मित्र मुझे पीकर धुत हो जाने के लिए उकसाने लगे। वे अपने घर ले जाकर पिलाने लगे थे मुझे। बड़े-बड़े घर थे उनके, जिनमें बार (मदिरा-कक्ष) भी थे। मुझसे उनका मनोरंजन भी हो जाया करता, क्योंकि मैं नशे में भक्ति और निर्वाण पर खासे भाषण झाड़ने लगती थी। मेरी बातें सुन-सुनकर किस तरह हंसा करते होंगे वे लोग! मदहोशी में क्या-क्या बोलती रहती और क्या कुछ होता रहता, मुझे कुछ भी तो याद नहीं। उस समय तो मैं बस उन्हीं लोगों के रहम पर होती। अपने आपे से एकदम बेखबर।

कलकत्ता में मैंने कुछ खूबसूरत नज़ारे भी देखे, जिन्होंने मेरी कुछ उदास कविताओं को जन्म दिया। उन दिनों मैं ऐसी कविताएं अपनी डायरी में लिख लिया करती थी।

कलकत्ता में ही मैंने पहली बार हीजड़े नाचते देखे थे, और यहीं मैंने पहली बार किसी वेश्या को देखा था। भोंड़े ढंग से चेहरा पोत-पातकर सस्ते बाज़ारू खिलौने-सी थी वह। कलकत्ता में ही मैंने पहली-पहली बार बैल-ठेले देखे थे। अलस्सुबह ही स्ट्रैंड रोड पर बैल-ठेले घिसटने लगते। पग्गड़ बांधे बैठे आदमी उन्हें हांक रहे होते और साथ में होतीं उनकी फूहड़-सी पत्नियां, जिनकी छातियों से चिपके थुलथुल-से बच्चे ऊंघ रहे होते—जैसे बूढ़े शराबी क्लबों में सूने समय में बैठे ऊंघा करते हैं।

हमारे पास नीली 'एम्बेसडर' कार थी और रमज़ान नाम का बूढ़ा ड्राइवर। सप्ताह में एक बार मैं कार में फ्री स्कूल स्ट्रीट जाया करती थी। वहां एक किताबों की दुकान थी, जहां नई-नई किताबें आती रहतीं। एक दिन मैंने वहां से लारेंस होप की कुछ कीमती किताबें खरीदीं और फिर उस आदमी के पास जाकर उसे उपहारस्वरूप भेंट कर आई, जिसे मैं उन दिनों बेहद चाहने लगी थी।

एक तरह से मर ही मिटी थी उसपर ; पर वह निकला एकदम परंपरावादी और इतना कायर कि तुरंत जाकर मुझे उपहार देने के लिए खरीद लाया स्टीफन ज्विग की दो पुस्तकें। एहसान जो नहीं रखना चाहता था। तत्काल हिसाब चुकता कर दिया। वह तो यहां तक डरता रहता कि कहीं कोई मुझे उसके साथ अकेली देख न ले। इसलिए वह जब भी हमारे यहां आता, अपनी पत्नी को जरूर साथ घसीट लाता। वह बेचारी हमारी बातें सुन-सुनकर बोर होती रहती और मुझे बड़ा तरस आता उसपर।

आखिरकार मुझे समझ आ ही गई। दादी ठीक ही तो कहा करती थीं कि खानदान का बड़ा असर होता है। जाने कैसे घटिया खानदान का था वह आदमी, जिसपर मैं रीझ गई थी। झटक फेंका मैंने उसे। और वह हाथ मलता रह गया। जिसे इतनी भी तमीज नहीं थी कि किसीका दिया उपहार कैसे ग्रहण करना चाहिए, ऐसे आदमी से कैसे निभ सकती थी मेरी ! इससे तो कार्लो कहीं बेहतर था। हताश होकर मैं फिर उसीके पास गई तो उसने पूछा, "तुम मुझे बिलकुल ही नहीं चाहती क्या ? लगता है, मैं तो तुम्हारे लिए सिर्फ एक वेटिंग-रूम हूं। एक गाड़ी से उतरी हो और दूसरी पकड़ने तक यहां टिकना-भर है तुम्हें…"

लेकिन फिर भी उससे मुझे बड़ा सहारा मिला। लगा, गोया वह कोई तेज जाम है, जिसे पीकर मैं भूल चली हूं अपने गम। दोपहर बाद मैं प्राय: पड़ी रहती उसकी गोरी बांहों में। धुंधला-धुंधला-सा एहसास जरूर था कि कार्लो तो सिर्फ पानी है…सिर्फ एक तालाब—धूप में चमकता हरी-पीली छटा बिखेरता तालाब, और मैं उसमें तैर रही हूं—चाह से टूट-टूटकर। उसके सशक्त रक्त में भी तैर रही थी मैं—। अपने आंसू सुखाती हुई। कार्लो ने मुझे नलपत की याद दिलाई, जहां मैं धूप तापती पड़ी रहा करती थी—अपने उभरते हुए अंगों को उघाड़े हुए। उसने मुझे प्राचीन नीमतला वृक्ष की भी याद दिलाई, जहां कभी रस्सियों-बंधा एक झूलना—खटोला लटका रहता था और मैं उस झूले में पड़ी-पड़ी गर्मियों की दोपहरियों की मद्धिम ध्वनियां सुना करती…

३८

गंधीली और अंधेरी गलियां दिल्ली की....
जहां मैं स्वयं को जवान महसूस किया करती

दिल्ली :
धूल से सन जाता है हमारा घर,
जब शाम को सड़क पर,
निकलता है भैंसों का झुंड
थका-हारा ग्वाला
गाता चलता है कोई
हलका-फुलका पंजाबी गीत,
और कमेटी के स्कूल की लड़कियां
चलती-चलती पल-भर को थम जाती हैं
हमारे द्वार पर,
शर्मीली-सी मुस्कान फेंकती हुई,
पर मेरे पास क्या है, देने को,
सिवा अधमरी मुस्कान के ?
निरंतर शिकायतों-भरे स्वर के सिवा
क्या है मेरे पास जो चढ़ा सकूं
शांति की इस समाधि पर ?
क्षमा करना,
हम हैं अधम और ओछे लोग

त्याग दिया है हमने,
अपनी माओं को सिर्फ इसलिए कि
फट गए हैं हाथ उनके,
काम कर-करके।
और,
तलाश रहे हैं हम, अमीर माओं को,
खोज मे हैं अच्छे सम्पर्कों की
और हमें
चलते ही जाना है, चलते ही जाना है।
तब तक, जब किसी दिन
हमारे बच्चे त्याग देंगे
हमे भी···।

जब मेरे पति की बदली तीन साल के लिए योजना आयोग, दिल्ली में हो गई तो मुझे लगा कि शायद नई जगह जाकर मुझे अच्छा लगेगा। मैं ज्यादा घूमी-फिरी तो थी नही। पति का काम ही ऐसा था कि आए दिन उसे दौरों पर जाना पड़ा करता। जब भी वह किसी अपरिचित स्थान से होकर लौटता तो मैं प्रश्नों की झड़ी लगा देती—कैसा था वहा के आकाश का रंग? क्या-क्या उगता है वहां? क्या पहनते हैं वहां के लोग? कैसी बोली बोलते हैं वे?

और मेरा पति जो कुछ भी बताता, उस सारी जानकारी की पृष्ठभूमि पर मैं अपनी कोई कहानी खड़ी कर लेती।

जब हम दिल्ली आए तो तीन दिन तक रवीन्द्र नगर रहना पडा। रिजर्व बैंक के अधिकारियों के कुछ फ्लैट है वहा। फ्लैट में 'डैजर्ट कूलर' लगा हुआ था और लॉन के गिर्द ऊंची-ऊंची बाड़ें थी। डाइनिंग टेबल पर गुलदस्ता सजा रहता। नौकर-चाकर वहां के अनाडी थे।

चौथे ही दिन हम डिफेंस कॉलोनी के बहुत छोटे फ्लैट मे चले गए। वहां हमारे पास इतनी भी जगह नही थी कि किसी आए-गए को बैठा सकें। सर्पिल-सी सीढिया चढकर बालकनी में जाना पडता। बडी छोटी-सी बालकनी थी। वही हमने बेंत की दो कुर्सियां डाल रखी थी। बालकनी के बाद था एक कमरा, जो अटा पडा था फर्नीचर और किताबों से। वहीं बैठकर हम खाना खाते। गुसलखाने मे पानी नही चढता था। सुबह छ. बजे सिर्फ पन्द्रह मिनट के लिए नल आते। हमारे रसोइये और ड्राइवर को पिछवाडे वाले बरामदे मे पड़े पैकिंग-बक्सों पर सोना पडता। बच्चो को हमने एक स्कूल मे दाखिल करा दिया था। हालांकि साल का अंतिम सत्र चल रहा था, पर फिर भी प्रिंसिपल ने दाखिला दे दिया था, क्योंकि मैंने उन्हें यह विश्वास दिला दिया था कि बच्चे जहीन है।

हमारी मकान-मालकिन दबे पाव हमारे यहा चली आती, शायद हमारी हरकतें ताडने; पर उस बुढिया की मुस्कान ही कुछ ऐसी थी कि मुझे निरस्त्र कर

३८

गंधीली और अंधेरी गलियां दिल्ली की....
जहां मैं स्वयं को जवान महसूस किया करती

दिल्ली :
धूल से सन जाता है हमारा घर,
जब शाम को सड़क पर,
निकलता है भैंसों का झुंड
थका-हारा ग्वाला
गाता चलता है कोई
हलका-फुलका पंजाबी गीत,
और कमेटी के स्कूल की लड़कियां
चलती-चलती पल-भर को थम जाती हैं
हमारे द्वार पर,
शर्मीली-सी मुस्कान फेंकती हुई,
पर मेरे पास क्या है, देने को,
सिवा अधमरी मुस्कान के ?
निरंतर शिकायतों-भरे स्वर के सिवा
क्या है मेरे पास जो चढ़ा सकूं
शांति की इस समाधि पर ?
क्षमा करना,
हम हैं अधम और ओछे लोग

त्याग दिया है हमने,
अपनी माओं को सिर्फ इसलिए कि
फट गए हैं हाथ उनके,
काम कर-करके।
और,
तलाश रहे हैं हम, अमीर माओं को,
खोज में हैं अच्छे सम्पर्कों की
और हमें
चलते ही जाना है, चलते ही जाना है।
तब तक, जब किसी दिन
हमारे बच्चे त्याग देंगे
हमें भी…।

जब मेरे पति की बदली तीन साल के लिए योजना आयोग, दिल्ली में हो गई तो मुझे लगा कि शायद नई जगह जाकर मुझे अच्छा लगेगा। मैं ज्यादा घूमी-फिरी तो थी नहीं। पति का काम ही ऐसा था कि आए दिन उसे दौरों पर जाना पड़ा करता। जब भी वह किसी अपरिचित स्थान से होकर लौटता तो मैं प्रश्नों की झड़ी लगा देती—कैसा था वहां के आकाश का रंग? क्या-क्या उगता है वहां? क्या पहनते हैं वहां के लोग? कैसी बोली बोलते हैं वे?

और मेरा पति जो कुछ भी बताता, उस सारी जानकारी की पृष्ठभूमि पर मैं अपनी कोई कहानी खड़ी कर लेती।

जब हम दिल्ली आए तो तीन दिन तक रवीन्द्र नगर रहना पड़ा। रिजर्व बैंक के अधिकारियों के कुछ फ्लैट हैं वहां। फ्लैट में 'डैजर्ट कूलर' लगा हुआ था और लॉन के गिर्द ऊंची-ऊंची बाड़ें थीं। डाइनिंग टेबल पर गुलदस्ता सजा रहता। नौकर-चाकर वहां के अनाड़ी थे।

चौथे ही दिन हम डिफेंस कॉलोनी के बहुत छोटे फ्लैट में चले गए। वहां हमारे पास इतनी भी जगह नहीं थी कि किसी आए-गए को बैठा सकें। सर्पिल-सी सीढ़ियां चढ़कर बालकनी में जाना पड़ता। बड़ी छोटी-सी बालकनी थी। वहीं हमने बेंत की दो कुर्सियां डाल रखी थीं। बालकनी के बाद था एक कमरा, जो अटा पड़ा था फर्नीचर और किताबों से। वहीं बैठकर हम खाना खाते। गुसलखाने में पानी नहीं चढ़ता था। सुबह छः बजे सिर्फ पन्द्रह मिनट के लिए नल आते। हमारे रसोइये और ड्राइवर को पिछवाड़े वाले बरामदे में पड़े पैकिंग-बक्सों पर सोना पड़ता। बच्चों को हमने एक स्कूल में दाखिल करा दिया था। हालांकि साल का अंतिम सत्र चल रहा था, पर फिर भी प्रिंसिपल ने दाखिला दे दिया था, क्योंकि मैंने उन्हें यह विश्वास दिला दिया था कि बच्चे जहीन हैं।

हमारी मकान-मालकिन दबे पांव हमारे यहां चली आती, शायद हमारी हरकतें ताड़ने; पर उस बुढ़िया की मुस्कान ही कुछ ऐसी थी कि मुझे निरस्त्र कर

देती । मैं उसे टोक ही न पाती । मेरा तो उस घर में बुरा हाल हो चला था । दिन में दो-दो बार नहाने की मुझे बचपन से ही आदत थी; पर वहां मैं क्या करती ! जब खोलो, तब नल में पानी नहीं । बस, सिर्फ स्पंज करके कपड़े बदल लेती, बीमारों की तरह । मैंने पति से कहा, "यहां अगर मुझे पूरा एक महीना भी रहना पड़ गया तो मैं मर जाऊंगी ।"

अभी हमें यहां आए हफ्ता भी नहीं हुआ था कि मेरे भाई का तार आ गया कि पिताजी को दिल का दौरा पड़ गया है । मैं तुरंत हवाई जहाज से कालीकट जा पहुंची । पिताजी दवाइयों से बेसुध हुए पड़े थे । दाढ़ी बढ़ी हुई थी । जब उन्होंने मुझे देखकर पहचाना तो भावुक हो रो पड़े । एक महीने तक मैं उनके पास रही । टैरेस में ही चटाई बिछाए पड़ी रहती और उनकी देखभाल किया करती । समय पर उन्हें सूप और फलों का रस दिया करती । एक रुपये में मैं एक पुरानी किताब खरीद लाई थी, जिसका नाम था, 'सौ तरह के स्वादिष्ट सूप कैसे बनाएं' । उसी किताब में पढ़-पढ़कर मैं तरह-तरह के सूप बना दिया करती ।

जब पिताजी ठीक-ठाक होकर चलने-फिरने लग गए तो मैं दिल्ली लौट गई । फिर हमने लाजपत नगर में मकान बदल लिया । इस घर की दीवारों के पास कैकटस उगे हुए थे । छोटा-सा लोहे का दरवाजा लगा था, जो खोलते-बन्द करते समय क्रीं-क्रीं की आवाज़ देता था । हमारे घर के उस पार एकड़-भर का मैदान था, और मैदान-पार थीं झुग्गी-झोंपड़ियां । मैदान में दिन-भर चरा करतीं भैंसें, जो रह-रहकर फुनफुनाती रहतीं । कभी हमारे घर की दीवार से थूथनियां रगड़ा करतीं ।

बाहर की सीढ़ियों पर बैठकर मैं सामने झुग्गी-झोंपड़ियों में रहने वालों को देखा करती । सुलगती सिगड़ियों पर झुकी हुई खाना बनाती औरतें । सिगड़ियों से उठता कोयलों का नीला धुआं…

करीब-करीब हर रोज ही किसी न किसी झोंपड़ी में कोई न कोई मर जाता । रोने-पीटने की आवाजें आने लगतीं, और लाश को एक चारपाई पर डाल-कर वे लोग ले जाते दूर कहीं जलाने को । पीछे-पीछे चलते सुबकते हुए सम्बन्धी । बड़ा ही एकरस और ऊबाऊ-सा लगता उनका रोना-धोना । निर्धन और निराश लोगों की रुलाई में ही ऐसी एकरसता होती है ।

उन्हीं दिनों मेरे बड़े बेटे मोनू को बुखार चढ़ा । कुछ दिन बाद पता चला कि टाइफाइड है । मैं आतंकित हो गई । लगा कि इन झुग्गी-झोंपड़ियों वालों से ही यह छूत लग गई है । और जैसे वहां आए दिन कोई न कोई मरता रहता है । कहीं यह भी न मर जाए ! मैंने पति से कहा, "मैं बच्चों को लेकर मालाबार जा रही हूं, वहीं चैन से रहूंगी । दिल्ली में रखा ही क्या है, सिवाय धूल, गर्द और कीटा-णुओं के ।"

लाजपत नगर से कुछ देर के लिए बची रहने के विचार से मैं शाम को अपने पति को दफ्तर से लिवाने 'योजना आयोग' चली जाया करती । रास्ते में

औरंगज़ेब रोड के दोनों ओर पत्तों के ढेर जलाए जाते देखती। उस धुएं की गंध मुझे बड़ी अच्छी लगती। नसों को राहत मिलती। दिल्ली की सी खूबसूरत सड़कें मैंने कहीं नहीं देखीं। दोनों ओर उगे ऊंचे घने पेड़ों की ठंडी छाया, और सड़कों के नाम भी बड़े सुन्दर। 'सुनहरी बाग रोड' नाम की सड़क से मैं सिर्फ इसलिए गुजरा करती, क्योंकि मुझे इसका नाम बड़ा अच्छा लगता। ऐसी सड़कों के बंगलों में रहने वालों से मुझे ईर्ष्या होती।

फिर हमें एक मित्र की सहायता से साउथ एक्स्टेंशन में एक अच्छा घर मिल गया। पहले तल्ले पर ही था यह फ्लैट। सीढ़ियों के जंगलों पर 'बोगनविला' और 'रंगून क्रीपर' फूलों की महकती डालियां लिपटी हुई थीं। हमारा मकान-मालिक रोमांटिक-सा युवक था। अपनी पत्नी के साथ हमारे यहां आया करता। बड़ा मीठा बोलती थी वह। उन दिनों मैं गर्भवती थी। तीसरा बच्चा होने वाला था।

दिल्ली में मैंने कुछ मित्र बना लिए थे। पढ़े-लिखे और बौद्धिक। जब भी मेरी कहीं घूमने-फिरने की इच्छा होती तो किसी न किसीके साथ चली जाती। कभी नाटक देखती तो कभी कोई अंग्रेजी फिल्म या फिर कोई कला-प्रदर्शनी। जब पैसे रहते तो हम लोग 'क्वालिटी' में जाकर आइसक्रीम खा लेते। एक युवक तो मुझे बड़ा ही अच्छा लगता था। नाट्य-समीक्षक था वह। मार्क एण्टनी से शक्ल मिलती थी उसकी। भले ही वह उम्र में मुझसे छोटा था, लेकिन वह मेरा सबसे अच्छा मित्र बन गया था। मुझे पूरा भरोसा था उसपर। जब भी मुझे घूमने-फिरने के लिए साथी की जरूरत पड़ती तो उसीका साथ मुझे अच्छा लगता। मेरे पति को भी वह अच्छा लगता। जब भी मैं बुझी-बुझी-सी लगती या बोर होती तो पति कहता, "जाओ न, घूम आओ उसके साथ।"

एक दिन हम दोनों स्कूटर में बैठकर हिचकोले खाते डिफेंस कॉलोनी में घूमते रहे। फिर वह मुझे 'लाबोहिम' रेस्तरां में ले गया। उसने चीनी चाय मंगवाई। एकदम उबला पानी-सी लगी थी मुझे तो, लेकिन फिर भी मैं कुछ ऐसा जाहिर करती रही, जैसे कि मैंने पहले भी पी हो।

'लाबोहिम' के बाद वह फिर मुझे कहीं और घुमाने ले गया और इस बार हमने बोतलों में बन्द सेब का रस पिया—सीधा बोतल से मुंह लगाकर। शाम झुक आई थी। दिल्ली की सड़कें धुंधली हो चली थीं और एक विशेष वातावरण में व्याप्त होने लगी थी। मुझे लगा कि मैं बहुत जवान हो गई हूं, बड़ी ही सुन्दर और एकदम उन्मुक्त…।

मेरं

३९

कालीकट में पागल ही पागल

फिर से आ पहुंचा था बरसात का मौसम,
और रोतड़े-से वृक्षों पर फैला घना पंक,
मानो शरीर पर एग्ज़ीमा फूट पड़ा हो।
भीगी धरती के भीतर से,
रेंग आए थे मोटे-मोटे कीड़े
सतह पर बरसते पानी में।
उस दिन भी पानी बरस रहा था,
जिस दिन मेरा बेटा पैदा हुआ,
प्रसूति का पहला दर्द उठा था जब,
तब भी पड़ रही थीं तिरछी-तिरछी बौछारें,
मेरी दर्दीली आहों और कराहों के,
सुर में सुर मिलाती हुई
ताकि मैं बौछारों का दर्द
सुनने लगूं और अपना दर्द भूल जाऊं।
तभी मुझे हुआ यह एहसास
कि भय लगता है, केवल स्वार्थी को ही,
कि दर्द लगता है केवल उसे,
जो प्यार नहीं कर सकता किसी को।

लगा था एक पल को कि मैं भी धरती हूं
मेरे भीतर है एक खामोश बीज
जो प्रतीक्षारत है कि कब धरती फटे,
और वह बाहर फूट पड़े,
ठीक वैसे ही जैसे गर्भ में पड़ा शिशु।
तो यही थी मेरी नियति तब !
चल दूं वेटिंग रूम में।
जब मेरा हृदय सूना हो गया तो
चाह उठी थी कि वेटिंग रूम में जाकर
चीख उठूं—
भर दे यह सूनापन ऐ परदेसी !
भर दे एक बच्चे से !
महत्वहीन है वह प्यार
जो रक्त को नशीला बना देता है।
ना ही कोई महत्त्व है उस पुरुष का
जो सान देता है तुम्हें अपनी वासना से
पंकिल बना जाता है।
महत्त्व है तो सिर्फ उस चीज का
जो बिजलियों और बरसात तले भी,
कुकरमुत्ता उठा जाती है,
गर्भ के भीतर हल्की-सी सिहरन,
उभरता हुआ भ्रूण।
महत्वहीन है सागर की वे उछालें,
जो कगार की सम्पदा बहा ले गईं थी साथ,
अर्थ पा जाती हैं वे लहरें
जो लौटा फेंक जाती हैं कगारों पर।
दोपहरी थी जब थमी बरसात
फराश के पत्तों पर थिरकी प्रकाश की किरणें,
और तभी आया था वो प्रकाश में,
क्वैं-क्वैं करता,
गोरा-गोरा-सा मेरा मुन्ना,
धुंधलके में रोशनी की लकीर-सा।
मेरा बेटा जयसूर्य
विलग होकर अंधकार से
अंधकार, जो कि मैं थी
अंधकार, जो कि मेरे भीतर था,

मेः

अंधकार, जिसके साथ मैं रहती थी
और अंधकार, जो कि उन कमरों में था
बैठते थे जहां वृद्ध
और धार पर चढ़ाते
उन शब्दों को,
जो आगे चलकर उन्हें बोलने थे।
अंधकार बांझ गर्भों का,
और अंधकारपूर्ण रात्रि के पंक में से
निकला था मानो वह सूर्य,
कुछ इस तरह जैसे,
असत्य में से जन्मा हो सत्य,
और रात ने जन्म दिया हो
सुनहले दिवस को।

जब मुझे गर्भ का सातवां महीना चल रहा था, तभी मैं प्रसूति के लिए अपने माता-पिता के यहां कालीकट चली गई थी। बेमन से ही गई थी वहां, क्योंकि मैं कभी भी दो-एक सप्ताह से अधिक अपने बेटों से अलग नहीं रही थी।

उन दिनों मेरे माता-पिता शहर से बाहर की एक बस्ती में रहा करते थे। अंधेरा-सा घर था। बाहरी दरवाज़े वाली दीवार पर दोनों ओर काई जमी हुई थी। आसपास कच्ची ज़मीन पर सांपों के बिल थे और जब-तब उनमें से सिर उठाए सांपों की फुंकारें सुनाई देती थीं।

अकसर एक पगली लड़की हमारे दरवाज़े पर आ जाया करती। नारायणी उसका नाम था। पहले तो दांत पीस-पीसकर मेरी ओर देखा करती, फिर फुस-फुसाती कि भूखी हूं। टूटे हुए दांत थे उसके।

वहीं एक और पागल थी। अम्मालु अम्मा नाम की बुढ़िया। वह अकसर कपड़ों और चावल के लिए हमारे सामने गिड़गिड़ाया करती थी।

और एक तो बस हद ही थी। पीले रंग की औरत थी। तीस-पैंतीस साल की रही होगी। वह बगल में गंदी पुटलिया दबाए चुपचाप आ खड़ी होती। वहीं बैठकर खाती और फिर खा-पीकर बाही-तबाही बकने लगती। एक से एक गंदे, भद्दे और अश्लील शब्द। सुनकर गुस्सा आ जाता हमें। नौकर-चाकर अकसर उसे खदेड़ देते, लेकिन वह फिर भी गेट के आसपास ही मंडराती रहती। चीख-चीखकर मर्दों के कुकर्मों को कोसती रहती। उन्हें कुत्ते से भी बदतर बताती। खासी भीड़ जुट आती उसकी बक-झक सुनने।

कालीकट में खास तौर पर गर्मी के महीने में जाने कहां से इतने पागल इकट्ठे हो जाते हैं। कारण शायद यह हो कि वहां की सड़कें बेतरह तपती रहती हैं और कूड़ा-कचरा सड़ता रहता है। इस बेरहम मौसम के बुखार से पूरा शहर तपता रहता है। कुएं सूख जाते हैं। सारी हरियाली जल जाती है, सिर्फ झाड़-

झंखाड़ रह जाते हैं।

अकेली घर से बाहर निकलने में मुझे डर लगा करता था। अपने कमरे मे बैठी-बैठी में पर्दे के पीछे से ही सड़क का नजारा लिया करती। मेरा कमरा ठंडा था। जंगल के घने भीतरी भाग की तरह। कमरे मे टीक का फर्नीचर सजा हुआ था और ड्रेसिंग टेबल थी, जिसपर अंडाकार आईना मढा हुआ था। उसी आईने के सामने बैठकर मैं बड़े गर्व से अपने शरीर की गोलाइया और उभार देखा करती थी।

एक सुबह मैं उठी तो मुझे दर्द हो रहा था। समझ गई कि बच्चा होने वाला है। डॉक्टर विमला नायर हमारी मित्र थी। बुलाने पर तुरन्त आ गई और मुझे अपनी कार में बैठाकर तुरन्त अस्पताल ले गई। उस समय आकाश पीला-पीला-सा दिखाई दे रहा था। ठंडी हवा सरसरा रही थी। लगता था कि बारिश होने वाली है।

अस्पताल के प्रसूति-कक्ष में मुझे लिटा दिया गया। दर्द से अपना ध्यान हटाने के लिए मैंने गायत्री मंत्र का जाप शुरू कर दिया; और फिर जब धूप मेरी आंखों पर पड़ रही थी और मेरी रग-रग मे गर्मी उड़ेल रही थी, तब मैंने महसूस किया कि बच्चा मेरी जाघ से रगड़ खाता हुआ निकल आया है। तभी उसकी चीख सुनाई दी। विमला बोली, "बड़ा ही सुन्दर बेटा है।"

उसके हाथों से बच्चा मेरी मा ने लेकर मेरी छाती पर लिटा दिया। मैंने उसे आशीर्वाद दिया दीर्घायु होने का। उसका सिर चूमा और तभी उसे जयसूर्य कह-कर पुकारा। बस, यही था उसका नामकरण-संस्कार। खासा गुलगुला और प्यारा-प्यारा था बच्चा। घने बाल, लम्बी पलकें। उस शाम अस्पताल मे कोई कमरा ही खाली नही था। पिछवाड़े के बरामदे मे एक बिस्तर डालकर मुझे और मेरे बच्चे को लिटा दिया था। पास ही था संडास और और कूड़े वाली बाल्टिया, जिनमें भरे पडे थे खून-सने पैड।

पूरी रात बारिश होती रही। बच्चे को बौछार से बचाने के लिए मैं और मेरी बहन रात-भर एक ही करवट पडी रही। इधर मैं और उधर वो और बीच मे मेरा बच्चा। एक मिनट भी सो न सकी थी मैं। ठडी हवा के फर्राटों से मेरे जिस्म मे सिहरन दौड रही थी। मुझे रह-रहकर अपने बच्चे की किस्मत पर तरस आ रहा था कि कैसी आई है बेचारे की पहली रात। पडी-पडी तुलना करती रही अपने बड़े बेटों के साथ कि जब वे पैदा हुए थे तो कैसा वातावरण मिला था। घर मे हुए थे वे। मेरी दादी के प्यार की गरिमा मिली थी उन्हे और मुझे, और उस रात रह-रहकर मुझे मृत दादी की याद आती रही।

सुबह को पिताजी आए तो मेरी हालत देखकर घर लिवा ले गए। घर पहुंचे तो वहा भी अजीब हालत थी। मेरी छोटी बहन की शादी की तैयारियां हो रही थी। दिन-भर मित्रों और सम्बन्धियों का आना-जाना लगा रहता, और वे लोग ड्राइंगरूम में बैठने के बजाय आ धमकते मेरे ही कमरे मे और बैठ जाते मेरे बिस्तर

पर या मेरे इर्द-गिर्द। जान आफत में आ गई थी मेरी। न तो मैं खून-सने कपड़े बदल सकती थी, न बच्चे को दूध पिला सकती थी और न सो सकती थी।

आधी रात को जाकर कहीं जान छूटती उन आने-जाने वालों से। घेर-बांधकर डाल दिए गए पशु-सी हालत हो गई थी मेरी। छातियों में दूध फटा जा रहा था, लेकिन मैं शर्म की मारी अपना ब्लाउज़ खोलकर दूध भी नहीं पिला सकती थी। दु:ख-दर्द सहती पड़ी रहती इस प्रतीक्षा में कि कब मुझे अकेली छोड़ दें ये लोग और मैं भीतर से दरवाज़ा बन्द कर लूं; लेकिन जब मुझे अकेली होने का मौका मिला और मैंने भीतर से दरवाज़ा बन्द कर लिया तो मेरे घरवाले घबरा गए कि मैं कहीं पागल तो नहीं हो गई। वे ज़ोर-ज़ोर से दस्तकें देने लगे।

"दरवाज़ा खोलो, दरवाज़ा खोलो।" वे चिल्लाए।

"क्या कर रही हो अकेली बच्चे के साथ?"

मैं अपने बच्चे को अपनी छाती से चिपका लेती। कुछ ऐसी ही वहशत के साथ, जैसे कोई मादा चीता अपने बच्चे की सुरक्षा के लिए भयभीत हो जाती। मैं चिल्ला पड़ी, "नहीं, कभी नहीं खोलूंगी दरवाज़ा।" फिर उन्होंने मेरे बड़े भाई को बुला लिया। भाई ने आकर बड़े ही विनम्र स्वर में कहा, "क्या बात है कमला? देख, मैं तो तेरा भाई हूं। बता, तुझे क्या परेशानी है, खोल दे दरवाज़ा।" और मैंने उठकर दरवाज़ा खोल दिया, और भाई के कंधे से लगकर सुबकने लगी। फिर वह मुझे अपने घर ले गया था, जहां भाभी ने मुझे सबसे अच्छा कमरा दिया था। मुझे सब तरह का आराम पहुंचाया।

बच्चा जब तीन हफ्ते का ही हुआ था तो मैं अपने घर दिल्ली लौट आई। हवाई अड्डे पर अलस्सुबह मुझे लेने मेरा पति आया। मुझे और नन्हे बेटे को देखकर उसने बांहें फैला दीं।

फिर दोपहर के खाने के समय बड़े बेटों ने जब नन्हे को देखा तो वे बड़े हौले-हौले छूने लगे उसके गुलाबी पंजे। मेरे पति ने तय किया कि नन्हे का नाम शोट्टू रखा जाए। मेरा स्वास्थ्य भी क्योंकि गिर चुका था, इसलिए पति ही नन्हे की ज़रूरतों का ध्यान रखने लगा।

हमने एक हट्टी-कट्टी सरदारनी को भी रख लिया था, जो दिन के समय उसकी देखभाल किया करती। वह उसे काका कहा करती, और अपनी बांहों में उछाल-उछालकर उसे हंसाया करती। उसके इस खिलवाड़ से मुझे बहुत डर लगा करता; लेकिन उसे मुझसे बड़ा ही स्नेह हो गया था। बहुत ध्यान रखती मेरा। ज़िद कर-करके मेरी टांगों की मालिश करती। जब मुझे मालिश की ज़रूरत न भी होती, तब भी वह करके ही मानती।

४०

उबरी थी मैं अपने व्यतीत की राख से—
फीनिक्स पक्षी की तरह

छोड़ दूंगी किसी दिन
छोड़ दूंगी यह कीटकोष
जो उसार दिया है तुमने
मेरे गिर्द—
सुबह की चाय से…
द्वार पर से उछाले हुए
प्यार-भरे शब्दों से
और अपनी थकी हवस से
सच किसी दिन मैं
पंख लगा उड़ जाऊंगी
जैसे उड़ जाती है
मुक्त होकर पंखुड़िया
हवा के झकोरों से।
और तुम
प्यारे पड़े रह जाओगे
जड़ के ठूंठ सरीखे
गर्वहीन हुए
संतप्त—अपने डबल बेड पर

लौट आऊंगी किसी दिन
सब कुछ खोकर
आहत हुई आंधी-पानी से
और अत्यधिक आहृत हुई
अपनी उन्मुक्तता का
एक और दौर जी-पी
लेने की चाह की अंधी खुशी से।
और फिर एक दिन
पाऊंगी कि
मेरा संसार हो चुका है
मांस-विहीन
न बच रही है इसमें
कोई नस और न
किसी नस में
रक्त की कोई बूंद।
रह गई हूं सिर्फ
एक पिंजर।
तब मूंद लूंगी आंखें
और ले लूंगी शरण
अन्यत्र कहीं नहीं तो
यहीं सही—
तुम्हारे चिर-परिचित
तिरस्कार के नीड़ में।

दिल्ली लौटने पर मुझे लगा कि मेरा स्वास्थ्य गिर रहा है। मेरे पेट में दाईं ओर हल्का-हल्का दर्द रहने लगा था। रात-भर मैं खांसती रहती, कुछ भी हज़म न होता। उबकाइयां-सी आने लगतीं तो बिस्तर पर जा लेटती। अपनी उम्र से बड़ी दीखने लगी थी मैं। किसी आए-गए का स्वागत करने के लिए भी मैं बिस्तर से उठ नहीं पाती थी। मेरे पति ने बड़े दुखी होकर इस बात को महसूस किया था कि मैं अब इस काबिल नहीं रही कि उसके साथ कहीं घूमने-फिरने या फिल्म देखने जा सकूं। एक दिन कहा भी था उसने जाते समय सीढ़ियों में खड़े हुए, "क्या तुम्हें मुझसे नफरत है?" मैं बेहाल थी थकान और दर्द से। कुछ भी तो बोल न पाई थी। उसीने फिर पूछा था, "आमी, तुम्हें क्या हो गया है?" कहते-कहते उसकी आंखें भर आई थीं और वो चला गया था घर से। फिर जल्दी ही मैं बीमार होकर विलिंगडन अस्पताल चली गई थी।

खुशकिस्मती से उन्हीं दिनों दिल्ली में मेरी एक सहेली बन गई, जिसे

देश-भर की औरतें प्यार करती थीं। उसका नाम था शर्ले। लम्बे भूरे बाल थे उसके और बड़ी मासूम-सी मुस्कान हर समय उसके चेहरे पर खिली रहती। वह रोज आती, मेरे कपड़े बदलती, बाल धोती। उसने मेरे बिस्तर के नीचे एक बड़ा-सा बर्तन रख रखा था। मैं लेटी रहती और वह मेरे लेटे ही लेटे बालों में शैम्पू कर दिया करती। मैं चाहती थी कि बाल कटवाकर छोटे करा लूं, लेकिन वह नहीं मानती थी। कहती, "तुम बिलकुल ठीक हो जाओगी। भगवान को अगर तुम्हें मारना होता तो वह काहे को तुम्हें इतना सुन्दर बच्चा देता।" उसके इस तर्क से मुझे बड़ी राहत मिलती।

लम्बी बीमारी के कारण मेरे पैर सुन्न हो गए थे। शर्ले हौले-हौले मेरे पैरों पर क्रीम मल के मेरी खाल नरमा दिया करती थी। बड़ी आभारी थी मैं उसकी और अकसर रो दिया करती थी। बीच-बीच में अकसर शर्ले लपककर खिड़की के बाहर झांकने लगा करती। मैं पूछती, "इतनी बेताबी से क्या देख रही हो?" लेकिन उसने कभी कोई उत्तर नहीं दिया। बाद में जब मैं चलने-फिरने के काबिल हो गई तो मैंने खिड़की से बाहर झांककर देखा। पोस्टमार्टम कक्ष दिखा था मुझे। सफेद चद्दरों से ढके मुर्दे ले जाए जाते थे वहां चीर-फाड़ के लिए।

अस्पताल के अलग-अलग भागों से मुझे विलाप करती औरतों के स्वर सुनाई दिया करते। आए दिन कोई मरता ही रहता। ऐसे ही समय शर्ले झट आकर मुझे कहा करती, "घबराओ नहीं, कोई बच्चा गिर गया था, उसे जरा-सी चोट आ गई है, रो रहा है। तुम सो जाओ अभी, सो जाओ।"

मैं कुछ साल और जीना चाहती थी। कम से कम तब तक जब तक मेरा सबसे छोटा बेटा चलने-फिरने लायक न हो जाए। मैं गिड़गिड़ाकर भगवान से प्रार्थना करती, "हे भगवान, मुझे थोड़ी-सी जिन्दगी दे दे। अब मैं आदर्श जीवन बिताऊंगी।"

दिल्ली में जब तक मैं रही, 'द सेन्चुरी' नामक पत्रिका के लिए लगातार लिखती रही। स्वर्गीय बी० के० कृष्णा मेनन यह पत्रिका निकाला करते थे। मेरे माता-पिता उनसे कभी मिले थे और उनसे परिचित थे, लेकिन शायद मैं उनसे कभी नहीं मिली थी। उनसे मेरी पहली भेंट उस दिन हुई, जब वह अस्पताल में मुझे देखने के लिए आए। इससे पहले मैंने उनके उद्दण्ड स्वभाव के बारे में सुन रखा था—कुछ ऐसे युवकों की जबानी, जो उन्हींके आगे-पीछे लगे रहते थे। एक ने तो मुझे यहां तक बताया कि उसने जब उनसे कहा कि मैं कमला दास को आपसे मिलवाने लाऊंगा तो उन्होंने कहा था कि कमला दास हो या कोई भी लेखक हो, मैं काहे को किसीसे मिलूं! इस बात से मेरे मन में उनके प्रति वितृष्णा-सी पैदा हो गई थी, लेकिन जब वह अस्पताल में मुझे देखने आए तो उन्होंने नर्सों को इस बात के लिए डांटा कि वे मेरा ठीक से ध्यान क्यों नहीं रखतीं। और फिर उन्होंने स्वयं ही एक तौलिये के कोने से मेरा गीला माथा पोंछा। मुझे आश्चर्य हुआ यह जानकर कि वह कितने दयालु हैं,

लेकिन अपनी इस दयालुता को किसीपर प्रकट नहीं करना चाहते।

उस बीमारी ने मेरी यह हालत बना दी थी कि मैं देखने में मनुष्य ही नहीं ागती थी अब। पंख-झरे रुण्ड-मुण्ड पक्षी की तरह दीखने लगी थी। काली हो ई थी और मेरी खाल पर पपड़ियां जम आई थीं। आवाज़ कुछ ऐसी हो गई ो कि आवाज़ न रहकर फुसफुसाहट-सी लगने लगी थी। जब मुझे अस्पताल से छुट्टी मली तो शर्ले का बहनोई मुझे कम्बल में लपेटकर हमारे घर ले गया और ़क साफ बिस्तर पर टिका गया था मुझे। मेरा छोटा बेटा मुझे देखकर डर गया ा। फूट-फूटकर रोने लगा था। मेरा दूसरा बेटा कई दिन तक मेरी पपड़ी-जमी ांगों पर सरसों के तेल की मालिश करता रहा, ताकि किसी तरह मैं फिर से ामान्य दीखने लगूं।

मैं अपने व्यतीत की राख से जी उठी थी फिर से—फीनिक्स पक्षी की तरह ौर भूल गई थी वे सब वायदे और प्रतिज्ञाएं, जो मैंने भगवान के सामने की ीं कभी। और एक बार फिर जिन्दगी का नशा छा गया था मुझपर। जब मैं ीमार थी तो मेरे होंठों पर भगवान कृष्ण का ही नाम रहता था सदा, पर जब मैं ठीक हुई तो मैंने उन्हीं होंठों पर गुलाबी लिपस्टिक लगानी शुरू कर दी और चांदनी रातों में मैं फिर से किसी मर्द के प्यार के लिए तरसने लगी थी।

उसके बाद हम लोग मकान बदलकर मान नगर में चले गए। गर्मियों की रातों में भी डैज़र्ट कूलर चलने के कारण हम लोग कम्बल ओढ़कर सोते थे। साउथ एक्स्टेंशन वाला मकान छोड़ने के साथ ही दो गरिमामय मित्रों के साथ से भी मुझे वंचित होना पड़ा। उनमें से एक था प्रोफेसर थापर और दूसरी थी सुक्रिता लूथरा। दोनों ही बहुत मेहरबान थे हमपर। प्रोफेसर थापर अकसर शाम को हमारे यहां आ जाया करते और मेरे छोटे बेटे को नंगा ही उठाकर सीने से लगा बैठ जाया करते थे। फिर हम लोग युद्ध की बातें करते रहते, जोकि उनका रुचिकर विषय था। मिसेज़ लूथरा तो हमारी मकान-मालकिन ही थीं और मेरी धर्म-बहन भी बनी हुई थीं। जब भी मेरे बच्चे के रोने की आवाज़ उन तक पहुंचती तो वह झट आकर उसे दुलारने लगतीं।

मान नगर में मेरा जीवन खासा सुखी हो गया था। हमारे घर के ठीक सामने एक छोटा-सा पार्क था। हरी-हरी घास उगी हुई थी उसमें और फूलों की बाड़ें लगी हुई थीं। सड़क पार ही लोधी गार्डन था। खूब हरा-भरा। इब्राहीम लोधी और सिकन्दर लोधी की कब्रों पर एक तालाब था, जोकि कमल-फूलों से अध-छिपा रहता था। हम अपने बेटों को घुमाने लोधी गार्डन ले जाया करते। मेरा दूसरा बेटा वहां पेड़ों के नीचे बिखरे लाल-लाल बेर चुना करता।

उन दिनों मुझे अपने पति का प्यार मिल रहा था। ठीक वैसा ही प्यार, जैसा पति अपनी पत्नियों को करते हैं; लेकिन मैं चाहती थी कुछ बदलाव, कोई नया जीवन। और किसी आदर्श प्रेमी की तलाश थी मुझको। किसी ऐसे की तलाश, जो अपनी राधा को भूलकर मथुरा चला गया हो। शायद मुझे किसी

ऐसे पुरुष की तलाश थी, जिसके हृदय की गहराइयों में हृदयहीनता छिपी हो। अन्यथा मुझे अपने पति की बांहों में शांति क्योंकर न मिलती! उपचेतन में शायद कहीं मेरे अहं की मृत्यु वांछित थी मुझे; और शायद किसी ऐसे जल्लाद की तलाश थी मुझे, जो अपने कुल्हाड़े से मेरे सिर के दो टुकड़े करके रख दे। जो मुझे प्यार करते थे, वे मेरी बेचैनी समझते थे। मेरे एक मित्र ने एक दिन मुझे बेचैनी में नाखून कुतरते देखकर कहा था, "पिंजड़े में बंद बिल्ली-सी क्यों हो रही हो तुम? थोड़ी-सी जिन ले लिया करो न। इससे तुम्हारी नसें शांत होंगी।" और फिर एक दिन मेरे पति ने चिल्लाकर कहा था, "हर समय असन्तुष्ट दीखती हो तुम! क्यों?" और मेरे इटालियन दोस्त ने कहा था, "सिर्फ मैं ही तुम्हें समझ सकता हूं। चलो, मेरे साथ चलो।"

४१

जब मैं अपनी ही बनाई गुफाओं में सिमट गई थी

उन सबने यह हालत बना दी थी
उस बेचारी की—
उन सब मर्दों ने जो उसे जानते हैं;
उसने भी जिसे वह प्यार करती थी पर
वह उसे उतना प्यार नहीं करता था
क्योंकि स्वार्थी था,
कायर भी;
उसके पति ने भी जो न तो उसे प्यार दे पाया और
सिर्फ ताड़ता रहा बेरहमी के साथ,
ऐसे में उन सनकियों की ओर वह झुक गई
उनके सीनों से लग गई
ऐसे सीनों से जिन पर के बाल उभर रहे थे अभी
बड़े-बड़े पंखों वाले कीड़ों की तरह
और उन गंवाते बालों में धंसा देती वह अपना चेहरा
उन जवान जिस्मों में खुद को खो देने के लिए
भुला पाने को···ओह ! ···अपना गम गलत करने···
और उनमें से हर कोई कहता
मैं तुमसे प्यार नहीं करता···

कर नहीं सकता
क्योंकि प्यार कर पाना मेरी फितरत नहीं, लेकिन
मैं तुम्हारा हितैषी हूं।
और वे उसे कुछ ऐसा कर देते कि
वह अपनी होश की हदें फलांगकर
आंसू-भीगे बिस्तर पर जा लुढ़कती
और रोती रहती पडी-पड़ी।
क्योंकि नींद का तो उसके लिए उपयोग ही
नही रह गया था कोई।
वह कहती मैं आंसुओं की दीवारें
चिनकर बन्द कर लूंगी स्वयं को···लेकिन
हर सुबह उसका पति
बंद कर जाता उसे कमरे में
और लगा जाता बाहर से ताला
कमरे में होती सिर्फ किताबें
और दुबकी पडी होती द्वार के पास थोड़ी-सी धूप
पीली बिल्ली की तरह
यही साथ देती उसका
लेकिन फिर जल्दी ही आ पहुंचा
मौसम सर्दी का
और एक दिन उसके पति ने
उसे बंद करने के बाद द्वार पर ताला जड़ते हुए देखा
कि धूप की बिल्ली मात्र एक रेखा है
एक अर्ध-रेखा भर
और फिर उसी शाम
जब घर लौटकर उसने ताला खोला
तो वह ठंडी हुई पड़ी थी
अधमरी-सी
ऐसी जो कि अब
किसी भी मर्द के काबिल नही रह गई थी।

दिल्ली की सर्दियां बडी रंगीन होती हैं। सूरज कुछ इस अंदाज़ से शहर पर झुकता है, गोया टोस्ट पर मक्खन का कतला धर दिया गया हो।

हर चीज़ से सुगंध फूटती है उसी धवल हितैषी सूर्य की। केवल घास और पेड़ों से झरे बेर ही नही महकाते, बल्कि वे बच्चे भी, जिनकी लाल-लाल गालें फटने लगती हैं रात के सुन्न कर देने वाले पाले से। और कॉफी हाउस में कॉफी पीते हुए वे युवक भी, जो अपनी प्रेमिकाओं की प्रतीक्षा कर रहे होते हैं। यह

तक कि जनपथ पर इंपीरियल होटल के सामने कांस्य-सामग्री वेचने वाले तिव्वती और उनका सामान भी।

मैं अपने वेटे को पांव-पांव चलाकर खान मार्केट ले जाया करती। सामान्य रास्ते से होकर नहीं, वल्कि मान नगर के मकानों के वीच वेतरतीव ढंग से उग आई घास को रौंदती हुई, और फिर वहां पहुंचते ही म चली जाती फकीरचंद की किताबों की दुकान पर। जवान था फकीरचंद। वड़ा ही शिष्ट और मित्रवत्। उसकी पत्नी वहुत सुन्दर थी।

वह जानता था कि मेरे पास कभी इतना पैसा नहीं होता कि मैंने जो किताबें चुनी हैं, वे सारी की सारी खरीद सकूं; लेकिन वह वड़े सब्र से काम लेता। एक वार जव मेरे पिताजी कुछ दिन के लिए दिल्ली आने वाले थे तो मैंने सारी खान मार्केट ढूंढ़ डाली थी उनके लिए छड़ी ढूंढ़ने के लिए। तव भी फकीरचंद ही मेरे काम आया था। अपने घर जाकर अपने वाप की एक छड़ी मुझे ला दी थी उसने। अपने दिल्ली-प्रवास की यह घटना मैं कभी भूल नहीं सकती।

मेरे वच्चे हर रोज़ ढेरों आइसक्रीम खाया करते। छोटे वेटे को उन दिनों मैं नेवी व्ल्यू रंग का कार्डिगन पहनाया करती, जो उसके गुलावी रंग पर खूव खिलता। उसे देखकर मैं गर्व से फूल उठती, 'कुंवारी मेरी' की तरह। और मैं अपने वेटे का गुलगुला हाथ थाम लेती।

उन दिनों मेरा सवसे वड़ा वेटा पन्द्रह साल का था। एक दिन की वात है, हम लोग घास पर वैठे आराम कर रहे थे तो वह वोला 'मम्मी, एक लड़की है, मैं उसे अपनाना चाहता हूं।

हम दोनों के वीच कोई भेदभाव नहीं था। उसने मुझे वताया कि वह लड़की वहुत खूवसूरत है, जवान है, नीली-नीली आंखें हैं उसकी। उन दिनों नारी-सौंदर्य के वारे में मेरे वेटे के विचार ऐसे ही थे, जैसे इस उम्र के किसी भी लड़के के कौमिक्स पढ़-पढ़कर हो सकते हैं। और वह वचपन से ही कौमिक्स पढ़ता चला आ रहा था। इसलिए मुझे लगा कि वह यों ही दून की हांक रहा है, लेकिन अगली ही सुवह जव एक वैसी ही लड़की हमारे दरवाज़े पर आ खड़ी हुई तो मुझे लगा, भगवान ने मेरी प्रार्थना सुन ली।

एक युवती जिसका हमारे यहां आना-जाना था, वही उसे लेकर आई थी। आते ही वोली, 'यह अन्ना है, पश्चिम जर्मनी की रहने वाली है।"

और उस दिन से अन्ना, मेरे वेटे की खास मित्र हो गई। वे दोनों हमारे घर के टैरेस पर खड़े काफी-काफी देर तक वतियाते रहते। कभी फ्रेंच साहित्य पर तो कभी मार्क्सवाद पर वातें करते। वड़ी ही वुद्धिमान और समझदार थी अन्ना। ऐसी कोई मेरे घर में पहले नहीं आई थी।

मेरे मोनू का तो यह पहला-पहला प्यार था, सो वह भी वय-सन्धिकाल का प्यार। अन्ना अव एक सप्ताह के लिए अपनी चाचियों-मौसियों के साथ कलकत्ता देखने जा रही थी तो मोनू ने भी हमसे कहा था कि वह भी साथ जाना चाहता

है, लेकिन मेरे पति ने मना कर दिया। बोला, "ऐसे बचकाने प्यार को बढ़ावा देने के लिए मेरे पास पैसा नहीं है बरबाद करने को।"

इसपर मोनू निराश हो गया। उसने अपने सारे जीवन-भर के एकत्र किए कॉमिक्स बटोरे और जाकर बेच आया। तब भी सिर्फ उसने उसे इतना ही पैसा मिल पाया कि वह कलकत्ता आने-जाने का थर्ड क्लास का किराया जुटा सके। रास्ते-भर वह ठंड से कंपकंपाता रहा। किसी मजदूर ने उसपर तरस खाकर एक बीड़ी पीने को दी। लौटकर जब मोनू ने सफर में खींची अपनी सारी तस्वीरें मुस्कराकर मुझे बताईं तो सुनकर मुझे उसपर गर्व हो आया।

मेरे पति ने कहा, "तुमने बेटे को बिगाड़ दिया है।" लेकिन हुआ यह कि उस नर्म और समझदार लड़की के प्यार में पड़कर मेरा बेटा पूरी तरह बौद्धिक बन गया था। वह रातों को देर-देर तक पढ़ता रहता और कुछ राजनीतिक लेख भी लिखकर छपने को भेजने लगा था। कुछ पत्रिकाओं में छपे भी थे उसके लेख।

जब मेरे पति का तबादला फिर से बम्बई हो गया तो मोनू का दिल टूट गया। फिर कुछ ही महीने बाद अन्ना भी अपनी पढ़ाई जारी रखने के लिए जर्मनी लौट गई थी। दो-एक साल तक उन दोनों का पत्र-व्यवहार भी चला। उसके बाद वह अपने काम-धंधे में उलझ गई और इधर मोनू अपने में; लेकिन अन्ना के प्यार ने मोनू को जो परिपक्वता दे दी थी, वह बराबर बनी रही और मेरे बेटे के जीवन का अंग बन गई।

बम्बई में कैडल रोड पर हमें रिजर्व बैंक का फ्लैट मिल गया था। निचले तल्ले पर ही फ्लैट था। खिड़कियों के शीशे टूटे हुए थे। अरब सागर से उठने वाली ठंडी हवा के झोंके सीधे आ घुसते हमारे कमरों में। समुद्र-तट से कुछ ही गज दूर था हमारा फ्लैट। समुद्र में जिन दिनों ज्वार उठता तो लहरें उस दीवार से आ टकरातीं, जो हमारे घर और समुद्र के बीच थी; और छोड़ जातीं समुद्र से बहाकर लाया हुआ कचरा।

शाम को उस समुद्र-तट पर कोई नहीं जाता था। सिर्फ कुछ ऐसे प्रेमी जोड़े ही जाया करते—जिनके पास कहीं जाने को पैसा नहीं होता, या फिर जाते कुछ लोफर, इस उम्मीद में कि शायद अंधेरे एकांत में मिलने वाले जोड़ों से कोई सोने की चेन या बटुआ-वटुआ हाथ लग जाए। मेरा बड़ा बेटा मुझे शाम को अपने साथ वहां ले जाया करता। एक बंगाली परिवार ने हमें वहां देखा तो समझे, हम प्रेमी-प्रेमिका हैं।

रात को समुद्र का शोर मेरी नसों में भर जाता और मैं रात-भर सो न पाती। डाइनिंग टेबल पर बैठी-बैठी मैं कविताएं लिखा करती। लिखती रहती। सुबह के पांच बज जाते। दूध वाला आकर दरवाजे पर दस्तक देता, तब कहीं जाकर मैं अपने पति और बच्चे के पास लेट पाती।

आखिरकार जब मुझे पूरी तरह लग गया कि मैं यहां रहती-रहती पागल हो जाऊंगी तो मैंने जैसे-तैसे पति को मना लिया कि हम लोग चर्च गेट के सिवा

फ्लैट में चले चलें। रिज़र्व बैंक के फ्लैट चर्च गेट में भी थे। चर्च गेट में सचिवालय और एस्सो पार्क के बीच हर शाम बच्चे अपनी आयाओं के साथ घास में खेलने चले आते। वहां कुछ पड़ोसियों के साथ हमारी मित्रता हो गई थी। विशेष रूप से देशमुख, मैनन, वाज़ परिवारों के साथ।

कोई लेखक जहां कहीं भी जाता है, उससे पहले ही उसकी बदनामी वहां पहुंच चुकी होती है। जो लोग लेखक नहीं होते, वे आम तौर पर लेखकों का विश्वास नहीं करते। सिर्फ इस कारण कि सिवाय शक्ल-सूरत की समानता के और किसी प्रकार की भी कोई समानता नहीं होती लेखकों और दूसरे लोगों के बीच। लेखक तो गोया एकदम अलग नस्ल के प्राणी होते हैं, और इन प्राणियों में मन नाम का एक ऐसा अदृश्य अंग होता है, जिसे कोई भी महत्त्व नहीं देता। परिन्दों तक के अपने कद-काठ होते हैं। स्थल पक्षी जो कि एकांत आकाश में अधिक दूर तक उड़ान नहीं भर सकते, वे प्रातः हैरान होते हैं चीलों को देखकर कि कैसे ये इतनी ऊंची उड़ जाती हैं और दूर आकाश में चक्कर पर चक्कर लगाती रहती हैं।

लेखक का तो स्वत्व ही दूसरे लोगों को भ्रमित कर देता है। उनके सामने लेखक का जो पक्ष उघड़ता है, वह मात्र उसका औघड़पन होता है—चाहे पहनने-ओढ़ने का हो या उसकी हरकतों का और या फिर उसकी भावनात्मक अतियों का। आखिर जब उसके मस्तिष्क के पुट्ठे इतनी शक्ति बटोर लेते हैं कि वह लोगों के गुप्त विचार पढ़ सके, तो फिर लेखक किसी भावी अनिष्ट की आशंका से मुंह फेर लेता है उन सब लोगों से और जा चिपटता है अपनी तरह के प्राणियों से, जो उसीकी तरह दिवास्वप्न देखने वाले होते हैं और जन्मजात ही उड़ारू प्रवृत्ति के भी।

जैसे-जैसे मैं लिखती चली गई, उन लोगों से कटती चली गई, जिनके बीच रहना मेरी मजबूरी थी और धीरे-धीरे मैं अकेली होती चली गई। मुझे लगा, मेरा यह अकेलापन मेरे चेहरे पर दाग दिया गया है! किसी भी मित्र-परिचित के घर में मुझे डिनर पार्टी के लिए जाना होता तो वहां मैं बुत बनी बैठी रहती और महसूस करती रहती अपने गिर्द हो रही होती बेरहम थरथराहट को। तब शायद मेरे पति को मेरे हाल पर तरस आ गया था, जो उसने अपने साथ मुझे पार्टियों में ले जाना बंद कर दिया।

इस तरह मैंने अपने-आपको बंद कर लिया उस गुफा में, जो मैंने खुद बनाई थी, और वहां बैठी-बैठी मैं कहानियां और कविताएं लिखा करती। इस तरह मैं सुरक्षित भी हो गई थी और अनाम भी। मेरे गिर्द होतीं सिर्फ किताबें ही किताबें। कोई हमदर्द यार-दोस्त नहीं और ऐसा रिश्तेदार भी नहीं, जो मेरी परम्परा से हटी सोच के कारण खानदान का नाम बदनाम होने की बात कहता…

४२

मेरा अंतिम प्रेमी : सांवला-सलोना

पतझर का था आरम्भ
और तैर रही थी वो,
अपने जीवन के पतझर मे
पीले पत्ते-सी,
और उन्मुक्त ।

पीना होने का मौसम है पतझर । जब मैं अपने जीवन के पतझर यानी मध्य वय में पहुंची—भले ही अनमनी-सी, तो मुझे अपने जिस्म के खम देखकर निराशा हुई । एक नामालूम-सा बदलाव आ गया था मेरे खमों और उभारों मे । मेरी खाल भी मोटी हो गई थी ।

सुबह को उठते ही मैं ड्रेसिंग टेबल पर से अपना चश्मा उठाकर आंखो पर चढाती और आईने मे अपना चेहरा देखती । यह मेरी आदत बन चुकी थी । उस समय मेरा चेहरा तरोताज़ा होता था । लगता, जैसे नर्म रातों ने अपने सारे स्वप्नों की सुनहरी आभा मेरे चेहरे पर उलट दी हो, और मेरी खाल को मुलायम करने के लिए शबनम बिखेर दी हो ; लेकिन जब मैं पैंतीस की हो चुकी तो नींद में कभी कोई स्वप्न नहीं दिखा मुझे, और आईने मे भी मुझे, जो चेहरा दीखता, वह भी मरियल-सा होता ।

मैं हैरान होती, आखिर यह होता क्या जा रहा है ? क्या अब मैं किसी छैल-छबीले को रिझा नही सकूंगी ? किसीको अपने प्रेम में उलझाकर प्यार का संतोष

नहीं पा सकूंगी ? क्या किसीको अपने नयन-वाण और हाव-भाव से घायल नहीं कर सकूंगी ? क्या मैं विलकुल खत्म हो चुकी हूं ? मेरे यौवन का जादू किसीपर नहीं चल सकता ?

और तभी वह आ गया तूफान की तरह और छा गया मुझपर। वही, मेरा अंतिम प्रेमी। सबसे अधिक वदनाम था वह जो, और वह राजाओं का राजा था। जंगली सांड़-सा था। सांवला-सलोना था।

चर्च गेट की एक कपड़े की दूकान से वाहर निकल रहा था और मैं भीतर जा रही थी। उसका चेहरा जाना-पहचाना-सा लगा तो मेरी निगाहें उठ गई थीं उस-पर। कुछ इस तरह गोया मोहित हो गई हूं। उस आदमी के वारे में वहुत-सी वातें फैली हुई थीं कि अनगिनत औरतों का प्रेमी है वह और वड़ा ही कामुक है। वह मेरी निगाहों में एक वड़ा ही शानदार और आकर्षक पशु था।

उसने फिर घूमकर देखा। वार-वार देखा। शायद यह भांपने के लिए कि मैंने उसकी ओर उस तरह क्यों देखा। दीखने में तो मैं कतई कोई कामुक और मर्दमार किस्म की औरत नहीं लगती थी; और शायद मैं ऐसी थी भी नहीं कभी। वड़ा ही सचेत मस्तिष्क था मेरा। शायद इसीलिए मेरा चेहरा गोल, चमकदार और फूल-सा नहीं था, जैसे कि आम तौर पर ऐसे आदमी को पसंद आता है। मेरा चेहरा तो एकदम सीधा-सादा था, गेहुंआ-सा, और मेरे हाव-भाव भी कुछ ऐसे नहीं थे; लेकिन लगता है, वह मेरे चेहरे की ओर आकर्षित नहीं हुआ था। ज़रूर ऐसा ही हुआ होगा।

अक्टूवर का महीना था कि हमारे एक मित्र ने अपना जन्मदिन मनाया और मुझे मजवूर करके शराव पिला दी। और भी कई औरतों को पिलाई; लेकिन घंटे-भर के अन्दर-अन्दर ही मेरी वुरी हालत हो गई और मैं वीमार पड़ गई। घर पहुंची तो अपने विस्तर पर विछ-सी गई थी। १०५ डिग्री वुखार चढ़ आया था मुझे। सुवह तक भी जव वुखार हल्का नहीं हुआ तो डॉक्टर घवरा गया। उसने तुरन्त मुझे पेनिसिलीन का टीका लगाना शुरू कर दिया। इससे मैं काफी ठीक हो गई, और अपने विस्तर में कम्वल-लिपटी पड़ी-पड़ी कितावें पढ़ने के काविल हो गई।

मेरा मित्र निसीम एज़ाइकिल अकसर मुझे देखने आया करता। दिन-भर मेरे साथ मेरे कमरे में रहता। मेरे विस्तर पर इधर-उधर विखरी पड़ी पेपर-वैक्स में से कोई न कोई उठाकर पढ़ता रहता, और मेरे पास वैठा मेरे साथ फ्रूट जूस पीता रहता। किसी भी वीमार आदमी के लिए निसीम एक आदर्श साथी था। वड़ा ही शरीफ और रहमदिल। वहुत धीरे वोलता है। सुनने वाले की नसों में रत्ती-भर तनाव नहीं आता।

दस दिन की वीमारी के वाद मेरे खून की जांच की गई तो पता चला कि इसमें वहुत सारे 'ल्यूकोकाइट्स' नामक कीटाणु हैं। डॉक्टर चिंतित हो गया। जिस विशेषज्ञ को वुलाया गया, उसने भी चिंता व्यक्त की। 'ल्यूकीमियां'

नाम की बीमारी का अंदेशा हो गया था उन्हें। उन्होंने तुरन्त मुझे बम्बई अस्पताल में भिजवा दिया। मैं अपने बेटे को भी मिलकर नहीं आ सकी, जोकि साथ वाले कमरे में खेल रहा था। जिस कार में मैं उस अस्पताल में ले जाई जा रही थी, उसमें पड़ी-पड़ी मैं पीछे छूटती सड़कों की निशानियां अपने दिमाग में बैठा रही थी ताकि मरने के बाद मेरा प्रेत अपने घर तक पहुंच सके, अपने बच्चों के बीच। मुझे विश्वास हो गया था कि अब तो मैं मर ही जाऊंगी।

अस्पताल में जो कमरा मुझे मिला, उसकी दीवारों पर हरे रंग की पुताई की हुई थी और उसके पर्दे-वर्दे भी हरे रंग के ही थे। एयरकंडीशनर लगा हुआ था उस कमरे में। वहां रहते कुछ ऐसा लग रहा था, गोया मैं जल-तल में बने किसी केबिन में हूं। एक ड्रेसिंग टेबल भी पड़ी थी वहां, जिसकी लकड़ी पर सफेद पेंट किया हुआ था, और मेरे बिस्तर के साथ एक अतिरिक्त बिस्तर भी बिछा हुआ था ताकि मेरा कोई एक सम्बन्धी मेरे साथ रह सके। मैं चादर ओढ़कर पड़ गई थी। डॉक्टर गोयल मेरा इलाज कर रहा था। हर रोज वह नया भड़कीला सूट पहनकर और बो-टाई लगाकर आता। वह मुझे तसल्ली देता कि मैं बहुत जल्दी ठीक हो जाऊंगी।

मेरे साथ वाले कमरे में हो एक छोटा बच्चा था। 'मैनिन जाइटिस' नामक रोग था उसे। रह-रहकर बेतरह चीख उठता था। भुलाई नहीं जा सकती वे चीखें। एक प्राइवेट नर्स उसकी देखभाल कर रही थी। कभी-कभी वह मेरे कमरे में भी चली आती और मेरे चेहरे में झांककर हमदर्दी में सिर हिलाने लगती। कहती, "ल्यूकीमिया का तो कोई इलाज ही नहीं जी। खैर, कुछ पत्रिकाएं पढ़ना चाहें तो मैं अपनी लाकर दे सकती हूं।" और वह दे गई थी मुझको 'ट्रू कन्फेशन्स' नामक पत्रिका के दो अंक। तस्वीरें ही तस्वीरें भरी पड़ी थी उनमें।

मैंने उस नर्स से पूछा था, "इस बच्चे के मा-बाप क्यों नहीं दिखाई देते?"

बड़ी फीकी-सी हंसी हंस दी थी वह, "अजी, अमीर लोग हैं न! भला अस्पताल में सो सकेंगे?

उस पूरी रात मुझे उस बच्चे की चीखें सुनाई देती रही; लेकिन भोर होने से कुछ ही देर पहले मेरी आंख लग गई थी। जब मैं जगी तो उसकी चीखें बन्द हो चुकी थी, लेकिन उसके कमरे में से झाड़ू-बुहारी के से स्वर सुनाई दे रहे थे। तभी उसकी नर्स अपनी पत्रिकाएं लेने मेरे कमरे में आई। बोली, "बच्चा तो चार बजे ही गुज़र गया। अब मेरी ड्यूटी खतम। अब मैं चलूं।"

अस्पताल की प्रयोगशाला के कर्मचारी हर सुबह छ: बजे आकर मुझे जगा देते—खून की जांच के लिए। 'खून', 'खून' कहकर चिल्लाने लगते और सारी बत्तियां जलाकर अपनी ट्रॉलियां और ट्रे ठेल लाते। खून लेने के बाद वे तो चले जाते और फिर भेज देते अपने एलचियों को, जो आकर टट्टी-पेशाब और थूक की शीशियां इकट्ठी कर ले जाते—जांच के लिए। अकसर मुझे ठेलकर एक्स-रे-कक्ष में ले जाया जाता। वहां का कर्मचारी हौले से मेरा ब्लाउज वगैरा उतार डालता

और फिर लिटा देता मुझे एक लम्बी मेज़ पर—एक्स-रे मशीन तले ; लेकिन बुखार था कि उतरने का नाम ही नहीं ले रहा था। मेरा भाई और वहन दोनों ही प्रसिद्ध डॉक्टर थे वम्बई में। उन्हें भी वुला लिया था हमने। मेरे एक फेफड़े पर फोड़ा था और जिगर में भी। दिल में भी गड़वड़ थी।

लेकिन इस सवके वावजूद मेरा पति मुझे तसल्ली देता कि मैं जल्दी ही ठीक-ठाक हो जाऊंगी। मेरे कमरे का नम्वर ५६५ था। शायद यही मेरे लिए भाग्य-वान सिद्ध हुआ, और मैं वच गई। मुझे एकदम भली-चंगी होती देखकर डॉक्टर और कई विशेषज्ञ हैरान रह गए।

फिर मुझे हवाई जहाज़ से दिल्ली भेज दिया गया, मेरे भाई के यहां, ताकि वहां मेरी देखभाल और जांच-पड़ताल भी ठीक से होती रहे। वहीं एक दिन मुझे उलटी हुई और ढेर सारा हरा-हरा गंद मेरे भीतर से निकला। कुछ ऐसा गोया उलझे-ऐंठे समुद्री पौधे हों। और वस, उसके वाद मैं पूरी तरह ठीक हो गई।

स्वास्थ्य के भी अपने ही राजसी ठाट हैं। गंभीर रोग से मुक्त होकर मैं एक वार फिर से आकर्षक हो आई थी। और तभी हवाई अड्डे पर मैं पुनः टकरा गई उस अधेड़ मर्द से। उसीसे, जिसपर मैं कभी मुग्ध हो गई थी और जिसने एक वार मुड़-मुड़कर मुझे गहरी निगाहों देखा था। वही, जिसकी कामातुरता की कहानियां सुन चुकी थी मैं। अवके तो मैं उसकी ओर इस तरह खिच गई, जैसे सांप की ओर उसका डरा-सहमा शिकार। वस, गुलाम ही तो हो गई थी उसकी। उस रात मैं सो न सकी। रात-भर करवटें वदलती रही। रह-रहकर उसीका ध्यान, उसके सांवले अंगों का ध्यान और उसीकी कामुक दृष्टि की चमक का ध्यान। फिर जल्दी ही मैं उससे मिली और मिलते ही समा गई थी उसकी वांहों में।

"ओह ! तुम तो मेरे कृष्ण-कन्हैया हो।" उसकी वन्द आंखों को चूमती हुई फुसफुसा रही थी मैं। वह हंस दिया था, लेकिन मुझे लगा, जैसे मैं एकदम कुंआरी हूं, और मेरा कौमार्य उसकी वांहों में कसमसा रहा है। कहीं यह पतझड़ से पहले की गर्मी तो नहीं थी ? या फिर भोर-पूर्व की संध्या ? मुझे कुछ याद नहीं था। कोई सुध नहीं थी। मैं तो वस वेसुध हुई उसे अपनी पलकों में समाए चली जा रही थी। मेरे कुंआरे सपनों का सांवला-सलोना कन्हैया था वह तो। शहर में कई थीं उसकी चाहनेवालियां, जो विलाप-सी करती पुकार-पुकारकर कह रही थीं उसे, 'ओ कन्हैया, न जा छोड़कर, सौतन-संग।'

जव मैं उससे मिल न पाती तो खत लिख देती, पर उसे ऐसे पत्र पसंद नहीं थे। कहता, "भावुक मत वनो। ऐसे मूर्खतापूर्ण खत न लिखा करो मुझे।" इसपर तो मुझे तत्काल उससे दूर हट-कट जाना चाहिए था, लेकिन मैं फिर भी चिपकी रही उसे···उसके रोमविहीन सीने से सटी रही···आंसू-सना चेहरा उसकी वगल के गहरे गह्वर में धंसाती रही···

···हर वार जव हम विछड़ते तो मैं पूछ वैठती, "फिर कव मिल सकूंगी

मैं तुम्हें ?"

और वह आईने के सामने अपने पके बालों को कंघाता हुआ और आईने में ही मेरी आंखों में झांककर कहता, "दो दिन बाद।"

उसके कमरे में अठारह आईने जुड़े हुए थे। और मुझे लगता, वे अठारह आईने नहीं, बल्कि अठारह तालाब थे, जिनमें मेरा काम-तपा गेहुंआ बदन डुबकियां लगाया करता था। उस कमरे के उस पार था एक बरामदा, जहां खड़े होकर हम दोनों समुद्र को निहारा करते। सागर ही एकमात्र साक्षी था हमारा। कई बार मैं समुद्र को सम्बोधित हो फुसफुसाई थी—"देख ले ओ सागर! आखिर मिल ही गया न मुझे प्यार! पा ही गई न मैं अपने कृष्ण-कन्हैया को···!"

४३

'मैंने भी कुछ देर व्यभिचार किया'

तूने सिधाना चाहा अवावील को
वांधना चाहा अपने प्यार की गर्मी में
ताकि वह भूल जाए
न सिर्फ कच्चे मौसमों के अहसास को
और पीछे छूटे घरों को
वल्कि भुला दे अपनी फितरत भी
उड़ान भरने की ललक भी
और निःसीम आकाश-मार्गों को भी।
मैं इसलिए नहीं आई थी तेरे पास
कि जानना था मुझे एक और मर्द को
मैं तो निज को जानने आई थी तेरे पास
विकसित होना सीखने आई थी
पर हर पाठ जो तूने दिया
अपने ही वारे में दिया।
और तुम खुश थे
मेरे तन का अनुभव पा
खुश थे मेरे जिस्म के मौसम में
इसकी हल्की-सी हलचलों से।

अपनी लारें चुआते रहे मेरे मुंह में
मेरे पोर-पोर में उड़ेलते रहे स्वयं को।
और अपने खट्टे-मीठे रसों का लेप
तुम लगाते रहे मेरी बेचारी-सी वासना पर।
तुम कहते थे मुझे पत्नी
और पत्नी के नाते तुमने मुझे सिखाया था
सिर्फ तुम्हारी चाय में सेक्रीन घोलना,
और रात के समय तुम्हें विटामिन खिला देना···
तुम्हारे राक्षसी अहं तले
दुबकी-सहमी पड़ी मैं
पलती रही तुम्हारे टुकड़ों पर
और बनकर रह गई बौनी···
···एकदम घिनौनी
न रह गई थी अपनी कोई इच्छा,
न बचा था कोई तर्क।
ऊल-जुलूल जवाब देती थी
तुम्हारे सवालों के।

•

गर्मी उतार पर है अब···
याद है मुझे
पतझड़ी हवाओं के तेज़ झोंके
जलती पत्तियों का धुआं
कृत्रिम प्रकाश से आलोकित तुम्हारा कमरा
सदा बंद रहने वाली तुम्हारी खिड़कियां
और एयरकंडीशनर के बावजूद—
कमरे भर में व्याप्त मर्दाने तन की गंध
गुलदस्तों में ठुंसे फूलों तक में रची-बसी
वह पसीने की सड़ांध···
कहीं कुछ भी नहीं और
न कोई गान न नृत्य
कुछ भी तो नहीं बचा
पुराने गुड़ियाघर-सा अंधेरा मेरा मन
बुझा दी गई हैं सारी रोशनियां जिसकी।
वली पुरुष का ढंग सदा एक ही
घातक मात्राओं में परोसता है प्यार भी।
प्यार तो जल-कूल खिले नरगिस-सा है

आखिर तो तलाश होती है इसे किसी अंत की…
संपूर्ण स्वतंत्रता की…
आईनों में टूटकर पत्ती-पत्ती हो विखर जाने की
और उस सुहानी-सहलाती रात की
जो सोख ले सारा जल…

अधिकतर शहरी औरतों की तरह मैंने भी कुछ समय के लिए व्यभिचार ने की कोशिश की थी, मगर मुझे इसमें मज़ा न आया। मेरे प्रेमी का न शुरू हो गया था—उसके कारोवार में भी और मेरे दिल में भी। अव तो के प्रति प्यार से अधिक दयाभाव था मुझमें।

उसके प्रशंसकों की भीड़ छंट गई थी। उसके फोन की घंटी भी खामोश ती। अव किसीको उसके अनुग्रह की तलव नहीं थी, और वह एक देश निकाला ए गए वादशाह की तरह उदास-उदास रहने लगा था। मैं तो अपना जीवन उसपर लुटा देना चाहती थी, लेकिन मेरे जीवन में अव रह क्या गया था! के लिए राहत पाने को केवल एक ही लता-कुंज वचा था। मेरे अंगों के वीच छोटे गुप्तघर में ही राहत पा सकता था वह। और उसकी थकी आंखों में वट आ सकती थी मेरे शरीर के रंध्रों के गुलावी अंधेपन को देख-देखकर।

जब मैं उसे अपने शरीर के साथ भींचे हुए होती, तव वह वड़वड़ा पड़ता, झे साफ दिख रहा है कि रक्त-क्रांति फूटी पड़ रही है, दरवाज़े चौपट खुले हैं, दीवारें लड़खड़ा रही हैं, सारे कानून धूल में मिल रहे हैं, लेकिन मैं अशक्त कुछ भी तो नहीं कर पा रहा अपने देश के लिए।"

जव हम आलिंगनवद्ध हुए पड़े होते तो उसके कमरे में लगे आईने वास्तविक ताव-से लग उठते और लगता कि हम उन तालावों में गिर पड़े हैं; और ईने में पड़ रही अपनी परछाईं की हरकत को वार-वार दोहराते—परछाईं भी परछाईं को, स्वप्न के भी स्वप्न को। पर फिर भी जाने क्यों मुझे अपने र के शोषण से घृणा थी। ऐसे नारी-शरीर की, जिसकी इतनी घटिया वट थी और जो आ पड़ी थी हमारे सुन्दर सम्पर्कों में खलल डालने। ऐसी- भद्दी चीज़ों ने ही सदा सम्पर्कों को नुकसान पहुंचाया है।

मैंने उदास होकर स्वयं से पूछा: 'क्या यह ज़रूरी है कि मेरा शरीर हमेशा मस्तिष्क के आड़े आ जाए?'

और तव ऐसा कुछ हो गया कि पहले जिस चीज से मुझे नफरत थी, उसीमें सूरती खोज ली मैंने। उन क्षणों में भी, जव वह वुत वना वैठा रहता, और में भी, जव वह तेज़-तेज़ हांप रहा होता, और उस खामोशी में भी, जो पल- को मेरी आत्मा के घाव भर देती थी। उसके शरीर में कैद होकर रह थी मैं तो। उससे परे मुझे कुछ भी सुझाई नहीं देता था। उसके सांवलेपन

ने चुंधिया दिया था मुझे और उसके प्रेमिल शब्दों ने संसार-भर का कोलाहल मुझसे परे धकेल दिया था।

और फिर जब यह सब समाप्त हुए भी बरसों बीत चुके थे तो मैंने स्वयं से प्रश्न किया : 'आखिर क्यों कर बैठी थी मैं उससे प्यार ? जबकि अच्छी तरह जानती थी कि वह इस काबिल हो नहीं कि प्यार कर सके।' और अपने इस प्रश्न के सही उत्तर की तलाश में अपने ही भीतर के अंधेरों में टटोलती। लगता कि प्यार का तो आदि और अंत होता है, वासना में ऐसा कोई दोष नहीं होता। मुझे स्थायी सुरक्षा की आवश्यकता थी और जरूरत थी ऐसे दो सशक्त बाजुओं की, जो मेरे कंधों को घेरे रहते। और चाहिए थे मुझे ऐसे कोमल स्वर, जो मेरे कानों में फुसफुसाते रहते प्यार। शरीर की सच्चाई चाहे जैसी हो, उसमें कुछ न कुछ ऐसा गर्द मिला ही रहता है, जो कि आत्मा पर कहीं न कहीं बोझ होता है। शायद इसीलिए मुझे यह जरूरी लगा कि मैं अपने शरीर को अनेक प्रकार से दूषित करूं, ताकि अपनी आत्मा को विनीत बना सकूं।

ऐसी हो-बनकर ही तो मैं उसकी सेज त्यागकर चल दी थी—फिर कभी न लौटने के लिए। एक बार पलटकर देखा भी तो न था मैंने। न विदा ही ली थी। जितनी त्वरा में उससे जा लिपटी थी कभी, उतनी ही जल्दी उससे हट-कट जाने का निर्णय भी ले लिया था मैंने। इस खेल में खोना उसीने अधिक था। मैं तो कोई मूर्त उपहार स्वीकारने में विश्वास ही नहीं रखती थी। अमूर्त-प्राप्ति ही वांछित थी मुझे।

मैं चाह उठी थी कि कैंसर बनकर उसके भीतर फैल जाऊं। चाहती यह भी थी कि वह असाध्य प्यार में तड़पे। ऐसी विशिष्ट हृदयहीनता हर उस औरत में आ जाती है, जो प्यार करने लगती है।

उसने मुझसे कहा था, 'पगली है तू, पर जुग-जुग जिए तेरा ये पागलपन···"

हां, यह सच है कि मैंने उससे प्यार किया, लेकिन पागल होकर नहीं, जैसे कि वह सोचता था। प्यार मैंने किया, पूरे होश-हवास में किया, तन और मन की पूरी-पूरी समझदारी के साथ। पहली बार उसके शरीर को छूते ही मेरे मन पर से पहले के सारे प्यार हवा हो गए। मुझे लगा था, जैसे यह सांवला शरीर ही जीवित शरीर है, बाकी सब मृत थे, और उन बाकी सबोंकी मृत्यु चुपचाप हो गई थी। किसी भी प्यार की मौत पर कोई मर्सिया तक नहीं' पढ़ा गया था। और फिर अठारह आईनों वाले उस कमरे में फुरसत ही किसे थी कुछ भी याद करने की ?

ओ नगर-पिताओ, मित्रो और नैतिकता के पहरेदारो, अगर मैं गुनहगार हूं तो मेरे गुनाह हर्गिज-हर्गिज माफ न करना। अगर मैं बेगुनाह हूं तो मेरी बेगुनाही को भी माफ मत करो। जला डालो मेरी द्रविड़ खाल को जलती हुई मशालों से और फूंक दो मेरे भीतर की तीव्र उत्तेजना को। या फिर दफना दो मुझे अपने पिछवाड़े के किसी बाग में और फिर भर दो मेरी कब्र की दरारों को बम्बई की

धूल से। मेरी नाभि में कोई कोमल पौधा भी उगा देना, क्योंकि मैं और वह बहुत देर से मिले थे, हमारा कोई बच्चा भी नहीं हो सका था, और मेरा उसके प्रति प्यार तो मात्र ऐसा ही था, मानो समुद्र पर लिख दिया हो कुछ या फिर हवा उड़ा लाई हो कोई गीत।

सारे मानवीय बन्धनों को झटककर मैंने भगवान कृष्ण में लौ लगा ली थी। कुछ ऐसी अनुभूति हुई थी मुझे, जैसे नाटक समाप्त हो चुका था और हॉल खाली हो चुकने के बाद चुपचाप भीतर आ गया था वह, और मैंने पूछा था उससे कि कौन-सी भूमिका अदा करोगे ? लगते तो जाने-पहचाने हो। उसने कहा था कि मैं कोई भूमिका अदा नहीं कर रहा, मैं तो सिर्फ मैं हूं। बड़ी मीठी थी उसकी आवाज़, जो कि गूंज उठी थी मेरे मन के पुराने गुड़ियाघर के वीरानेपन में। और आया था वह मुझपर दावा लेकर अंततः मुझे अपना लेने। उसके बाद वह बस गया था मेरे स्वप्नों में। प्रायः मैं दीया जलाकर पालथी मारकर बैठ जाती और उसकी भक्ति के मंत्र जपने लगती।

मेरा वज़न घट गया था। एक दिन बैठे-बैठे मेरी सांस उखड़ गई और मैं लुढ़क गई। फिर से मुझे पहुंचा दिया गया बॉम्बे हॉस्पिटल के उसी कमरा-नम्बर ५६५ में। डॉक्टर ने कहा, "घबराने की कोई बात नहीं। मामूली-सा हृदय-रोग है," और बीमारी का नाम बताया 'मायोकार्डाइटिस'।

फिर उन्होंने की जांच-पड़ताल और उसके बाद दो ऑपरेशन हुए मेरे। दूसरा ऑपरेशन ज़्यादा बड़ा था। उस ऑपरेशन के लिए जब मैं तैयार हो रही थी तो मेरी बहन मेरे पास बैठी दुर्गापाठ कर रही थी। कहने लगी, "तुम्हारे स्वास्थ्य-लाभ के लिए नहीं कर रही हूं यह, बल्कि इसलिए कि अगर तुम्हारे भाग में अभी मरना लिखा ही है तो फिर तुम्हारी गति हो जाए।"

मैं शांत थी। निश्चित। दुर्गा की छवि मन में उतार रही थी—लाल साड़ी में सुसज्जित तथा रत्न जटित आभूषणों में देदीप्यमान भव्य भगवती। ऑप-रेशन टेबल पर जब मुझे बेहोश किया जा रहा था तो यही अंतिम छवि थी मेरे मन में।

फिर जब कई घंटे बाद मुझे होश आया तो मुझपर एक नारी का सुन्दर चेहरा झुका हुआ था। उसे देखकर अनायास ही मेरे मुंह से निकल गया, "दुर्गा हो तुम ?"

वह बोली, "हां ; पर तुम्हें कैसे पता कि यही था मेरा नाम..."

बाद में मुझे पता चला कि यह तो लेडी डॉक्टर थी और मायके में इसका नाम दुर्गा था, जबकि शादी के बाद इसने अपना नाम रमा रख लिया था। उसे क्या पता था कि मैंने तो उसे दयामयी भगवती दुर्गा समझ लिया था।

कमरा-नंबर ५६५ से मैं पहले ही परिचित थी। अतः जब मैं फिर से यहीं आ गई तो लगा, घर आ पहुंची हूं। डॉक्टर भी कुछ अधिक कृपालु थे। मेरा हाथ अपने हाथ में ले-लेकर बड़े ही स्नेहसिक्त स्वर में बातें करते। विशेष रूप से

एक युवक गंजा हो रहा डॉक्टर। वह 'बेसन्स एण्ड हैजेज' ब्रांड के विदेशी सिगरेट फूंक-फूंककर टूटे फर्श पर फेंक दिया करता। उसका हाथ मेरे हाथ में इस सिगरेट की जो बास छोड़ जाता, मुझे बड़ी अच्छी लगती।

सुबह को एक घंटा मैं भजन गाया करती। डॉक्टर ने इजाजत दे रखी थी कि मुझे पहियों वाली कुर्सी में कृष्ण मंदिर ले जाया जा सकता है। आनंदित मुद्रा में कृष्ण की मूर्ति अवर्णनीय रूप से सुन्दर थी। मैं पूछती उसे, "मुझे फिर से अपने पास कब बुलाओगे कन्हैया ? अभी समय नहीं आया क्या ?"

मैं भरपाई थी इस संसार से। इसके कड़वे फल भी बहुत चख चुकी थी। मेरे पति को लगने लगा था कि मेरा दिमाग हिलने लगा है। मानसिक तनाव दूर करने और नींद लाने वाली दवाइयां दी जा रही थीं मुझे। और तीन महीने तक बिस्तर में पड़ी-पड़ी ही आराम करने को कहा गया था। बिस्तर में भी मुझे अपने नीलवर्णी श्याम का ही ध्यान बना रहता। वही खंजन नयन थे उसके और वही थी चिर-परिचित मुस्कान।

मेरा धीरज छूटा जा रहा था। समझ नहीं पा रही थी, अस्पताल से क्यों लौट आई हूं ? आखिर क्यों जी उठी हूं फिर से ? किसी-किसी दिन तो आईने के सामने बैठी अपने पीले होंठों पर लिपस्टिक लगाते समय सहसा ही बेचैन हो उठती और आईने में दिखती मुझे दो आंखें—धुंध में तैरती हुई। मैं अपने अकेलेपन की गहराइयों में झांकने लगी थी शायद, और तभी मुझे लग उठता कि मैं किसी लाश के होंठों पर लिपस्टिक लगा रही हूं···मौत मेरे द्वार खड़ी है···मेरी आत्मा मेरे शरीर में एक विशिष्ट सुगंध भरने लगी है···अगर द्वार खड़ी मौत ने बढ़कर मुझे छू लिया तो यह सुगंध मेरे शरीर से उड़ जाएगी और फिर इसके स्थान पर भर जाएगी एक असह्य दुर्गन्ध···मेरे बेटे तक जो अब मेरे गाल चूमते हैं, मुझे देख दहल जाएंगे···

मैंने अपने दूसरे बेटे से अस्पताल में कहा था, "अगर अस्पताल में मर गई तो मेरी आत्मा भटकती रहेगी और फिर मैं प्रेत बनकर तुमसे मिलने आया करूंगी। अच्छा ही तो रहेगा न ! इसी बहाने तुम लोगों से ···।"

"नहीं मम्मी, नहीं···तब तो हम सबको तुमसे बहुत-बहुत डर लगा करेगा···"

उसके इन शब्दों ने मुझे मसल डाला था। उस क्षण तो मैं अधिक अनजान और अधिक सरल हो आई थी। इतनी सरल कि अपने पति से भी यह वायदा कर दिया था कि हर जन्म में उसीकी पत्नी बनूंगी।

वास्तव में वह है कौन ? मैं कौन हूं ?और कौन है ये तीन लड़के, जो मुझे मां कहते हैं ? नश्वर शरीरों का बोझ लदा है हमपर। जो बांधता रहता है मोह-तंतु —असत्य और नाशवान। एकमात्र स्थायी संपर्क-सम्बन्ध तो केवल भगवान के साथ ही बनाया जा सकता है। वही मेरा पति है। वही सहस्रों रूपों में आएगा

मेरे पास, और मैं भी अनेक रूपों में उसकी इच्छा-पूर्ति करूंगी। वही मुझे आलिंगन में लेकर लाड़ करेगा तो वही छलिया छल भी लेगा मुझे।

मैं इस संसार की हर डगर पर चलूंगी, किसी भी राह को निंदित नहीं करूंगी । सवको समझूंगी । और फिर जव मैं जाऊंगी अपने भगवान के पास, तो मुक्त हो जाऊंगी···मोक्ष मिल जाएगा मुझे···

४४

मैं तो कभी भी अति कामुक नहीं रही…

यही थी तब हमारी एकमात्र विरासत—
यही पुरातन संक्रामक विष
जो पालते थे हम अपनी आत्मा में
ताकि
जब भोर को मुल्ला बांग दे मस्जिद की ऊंची मीनारों से
गिरजेघर की घंटियां घोषणा करें देवदूत-आगमन की
और मंदिर में उभरे पुजारी के मंत्रमय जाप
तो हम गुज़र जाएं दिन में नफ़रत की गांठें लिए
और कह दें कि तर्कहीन है यह सब
नहीं मानना है इसे
और इस अनास्था का चुनाव किया था हमने
शायद इसके से कहीं सूंघ लिया था यह सत्य कि
हमारे पिताओं का पागलपन ही है यह
जो बोल रहा है तीन अलग अन्दाज़ में
बड़बड़ा रहा है, ज़िबह कर दो काफ़िरों को
ईमान न ला सकें जो
या फिर बेहतर हो कि
नोच डालो आंखें इनके बच्चों की

और बिखेर दो सड़कों पर ।
ओह भगवान !
धन्य है तू !
धन्य है तेरा पवित्र नाम !
धन्य है धर्म जो
पवित्र हुआ नास्तिकों के रक्त से ।
धन्य है हमारा यह पवित्र नगर,
धन्य हैं इसके चोखे चटख रंग,
और धन्य है इसकी शान…

जब बंगला देश के लिए मुक्ति-संग्रामच ल रहा था, मेरा सबसे बड़ा बेटा पीलिया रोग में पड़ा हुआ था । एक खासी अंधेरी शाम थी । मैं अपने फ्लैट के टैरेस पर खड़ी हुई थी कि सायरन चीखने लगा । इमारतों के उस पार समुद्र दिखाई दे रहा था—तारकोल-सा काला ।

कई दिनों से हम युद्ध-सम्बन्धी बातें कर रहे थे । मैं जानती थी कि अगर बम्बई पर हवाई हमला हुआ तो पाकिस्तानी हवाई जहाज़ पश्चिम की ओर से समुद्र के ऊपर से ही आएंगे । और हमारा घर बिलकुल समुद्र के निकट था । गोदी के पास ही तो था । बाईं ओर सचिवालय था, जहां मंत्री लोग फाइलों में डूबे रहते, और दाईं तरफ थी रेडियो तथा दूरदर्शन की नई इमारत । हम सब पर डाई मारने में पाकिस्तानी बमबाज़ हवाई जहाज़ों को कितना आनंद आता !

हमारी बिल्डिंग वालों ने घर-घर में निर्देश भिजवा रखे थे कि सायरन बजते ही हर कोई सबसे निचले भाग में जा दुबके—सीढ़ियों के पास और उस समय लिफ्ट भी इस्तेमाल न की जाए । हम छठे तल्ले पर रहते थे । मैंने तय कर लिया कि चाहे जो हो, मैं अपने बीमार बेटे के साथ अपने फ्लैट में ही रहूंगी । मरना ही होगा तो शान से मरूंगी । नीचे सीढ़ियों के पास पशुओं की तरह पिस-कर मरने से तो बेहतर ही होगा ।

मुझे और मेरे बेटे को छोड़कर परिवार के बाकी लोग भी भला कैसे जा सकते थे; इसलिए हमने अपने हवाई हमले से बचाव का स्थल बना लिया अपने स्टोर को । वहीं फर्श पर हमने चटाई बिछा रखी थी बीमार बेटे के लिए । वहीं पानी भरकर रख लिया था तथा प्राथमिक चिकित्सा का सामान और एक फावड़ा भी ।

पहली बार जब सायरन बजा तो मैं टैरेस पर ही खड़ी रही । कुछ मिनट तक पूरे नगर पर अप्राकृतिक खामोशी छा गई थी और अंधकार सीलन-भरा लग रहा था । आकाश में एक भी तारा दिखाई नहीं दे रहा था कि तभी पश्चिम-मोत्तर से चार लाल रोशनियां आती दिखाई दीं, और फिर पीछे-पीछे आ गईं कुछ और व्यूहबद्ध लाल रोशनियां । मैंने समझ लिया कि ये पाकिस्तानी हवाई जहाज़ ही हैं । भीतर जाकर मैंने अपने परिवार वालों को बता दिया । मेरा पति और मंझला बेटा आतंकित हो गए से लगे । फिर अगले ही मिनट हर ओर तेज़

धमाके गूंजने लगे। लगा कि बम बरस रहे हैं।

उन दिनों हमारे ड्राइंगरूम में गणेशजी की कांस्यमूर्ति पड़ी रहती थी। हर सुबह नहा-धोकर मैं गणेश-पूजन किया करती थी। पूजन के समय मेरा छोटा बेटा मेरी गोदी में चढ़ आता। गणपति की सुनहली देह पर मैंने लाल सिंदूर छिड़का हुआ था। उस क्षण वह मुझे छिड़का हुआ सिंदूर रक्त-सा दिख उठा। सोचने लगी, क्या मेरा गणपति भी कोई घायल सिपाही है?

सायरन की बच्चे-सी चीख ने मेरी नसें झिंझोड़कर रख दी थीं। इसकी आवाज कुछ ऐसी थी, गोया कोई बच्चा डरकर चीख उठा हो। और तभी मुझे एक धक्के की तरह यह अहसास हो आया कि मुझे तो इस बम्बई शहर से प्यार है और मैं नहीं चाहती कि इसे कभी कोई भी घाव लगे। मालाबार में छोटे बच्चों को नहलाते समय नौकरानियां गाया करती हैं: 'नन्हीं-नन्ही टांगों, नन्हे-नन्हे हाथों, फलो-फूलो।'

उस समय मैं रोते हुए नगर को अपनी बांहों में भरकर उसे सहलाने वाले गीत गाना चाह उठी थी, और अपनी सारी-सारी दुआएं दे डाली थीं इसे कि मेरे इस प्यारे-प्यारे शहर के बाजारों में वाणिज्य-व्यापार फले-फूले; धनाढ्य भक्त इसके मन्दिरों में हर रोज़ घंटियां बजाएं; यहां की वेश्याएं दिन ब दिन सुन्दर और चिकनी होती जाएं। बागों में बच्चों की किलकारी गूंजे और मैरिन ड्राइव पर विचरती-विहार करती गर्वीली औरतें और अधिक गर्वीली और सुन्दर होती चली जाएं…

फिर जब हमने सुना कि हमारी यान-भेदी तोपों ने पाकिस्तानी हवाई जहाज़ों को खदेड़ दिया तो हमें राहत की सांस आई।

हमारे घर में शाम को प्रायः या तो लेखक जुटे रहते या अर्थशास्त्री। हम में से कुछ एक अपनी सरकार की इस नीति के विरोधी थे कि बंगला देश और वहां के शरणार्थियों की सहायता क्यों की जा रही है; क्योंकि उनकी सहायता करते-करते हमारा अपना अर्थ-तंत्र गड़बड़ा जाएगा और उससे हमें मिलेगा क्या—कुछ देशों से क्षणिक वाहवाही के सिवा। हमारे अपने देश में ही क्या कम भूखे-नंगे और बेघर लोग हैं? फुटपाथों पर पड़े रहने वाले और छप्परों तले दुबके पड़े बेकसों की कोई कमी नहीं है हमारे यहां। अक्सर देखा है मैंने, जब-जब भी ताजमहल होटल से कोई डिनर खाकर लौटी हूं, अनेक घरों की बाहरी सीढ़ियों पर दुबके पड़े बूढ़े-बूढ़े लोगों को बारिश की बौछारें झेलते और खांस-खांसकर बेहाल होते। और फिर घर लौटने के बाद अपने बरामदे में से मैंने देखा है सचिवालय, स्टेट बैंक तथा आकाशवाणी भवनों पर भी लगे तालों को भी, जिनकी सारी जगह बेकार पड़ी होती है उस समय।

मैं अक्सर हैरान होती हूं कि क्यों ऐसा कोई सरकारी आदेश जारी नहीं हो जाता कि सब बड़ी-बड़ी इमारतों के नीचे के भाग तेज़ बरसात और सर्दी की रातों को बेघरबार लोगों के लिए खोल दिए जाएं। हर होटल वाले को

अपनी दैनिक आय का दस प्रतिशत भाग गरीबों को भोजन कराने में खर्च करने को मजबूर किया जाए। दान करना भारत की प्राचीन परम्परा रही है। उस परम्परा को पुनर्जीवित करने में कोई हर्ज नहीं। खास तौर पर अब, जब कि कठिन समय में गुज़र रहे हैं हम। अंग्रेज़ी प्रभाव ने भिक्षावृत्ति के प्रति शहरी लोगों की सोच बदल डाली है। अब तो जब भी कोई हाथ फैला सामने पड़ जाता है तो ये लोग उसे भड़ककर दुत्कार देते हैं। कहते हैं, भीख को बढ़ावा मत दो। और ऐसे लोग हतोत्साह करना चाहते हैं उन्हें भी, जो अपना भोजन गरीबों में बांटकर खाना चाहते हैं।

हृदयहीनता है यह, जोकि आज का फैशन बन गई है, और इसके लिए दोषी हैं समाचारपत्र। यदि कोई एक अखबार भी शिष्टता का परिचय देने लगे तो बात बन जाए। किसी दानी व्यक्ति की दानशीलता का समाचार प्रकाशित करके अन्य अनेक दयालु व्यक्तियों को प्रेरित किया जा सकता है—भले ही वे मात्र कुछ नाम कमाने के से खयाल ही दान देने लगें। मैं तो तरस गई हूं। किसी भी अखबार में कोई एक छोटी-सी भी ऐसी खबर पढ़ने को कि किसीने गरीबों में कुछ कपड़े-लत्ते बांटे हों, जाड़ों में ठिठुरतों को कम्बल दिए हों, या फिर उन गरीब बच्चों में कुछ फल-बल बांटे हों, जो बेचारे सड़कों पर बिखरे कूड़े में से अपना भोजन बीनते फिरते हैं। अखबारों में तो बस छपती हैं अपराधों की खबरें या फिर कहीं किसी सभा-सम्मेलन में झाड़े गए मंत्रियों के खोखले बयान। अखबार पढ़कर कुढ़न होती है, अरुचि पैदा होने लगती है। क्यों नहीं अच्छी-अच्छी बातें छपतीं ? किसीने कोई भलाई का काम किया हो तो वह नहीं छपता, कोई अपराध किया हो तो झट छप जाता है।

हमारे घर के पश्चिम की ओर एक पार्क है। वहां एक वृद्ध प्राय: अपने दो नौकरों के साथ आता है, गरीब बच्चों में संतरे या आम बांटने। बच्चे बेचारे अलस्सुबह से ही इन्तज़ार कर रहे होते हैं कि कब वह दानी बाबा आए और उन्हें कोई फल चखने को मिले। और जब-जब भी मैं उस वृद्ध को देखती हूं, नन्हे-मुन्नों में फल बांटते, तो सच, मैं गर्व से फूली नहीं समाती।

रोग और पीड़ा ने मुझे प्रौढ़-परिपक्व बना दिया था। अपने प्यार को स्थानीय बनाकर रखना तो मैं भूल ही गई थी। अब मेरे लिए बड़ा सहज हो गया था उन सबसे प्यार करना, जो भी हमारे यहां आते। मैं तो अपने पति तक को पुत्रवत् समझने लगी थी। कायापलट हो गया था मेरा। और इस रूपांतरण के प्रति सहज हो आना सीख लिया था मेरे पति ने भी। शायद उसकी दृष्टि में मेरे शरीर की टूटी-फूटी गुड़िया में भी कुछ आकर्षण बाकी था। भले ही अब मेरा शरीर वैसा नहीं रह गया था, जैसा कि कुछ वर्ष पहले था। निष्पक्ष होकर अपने शरीर का जायजा लेती और इसकी खामियों और खूबियों की जांच करती। यह तो अब एक ऐसी कपड़े की गुड़िया रह गया था, जिसके कुछ टांके इधर-उधर से टूट-उधड़ गए हों। पेट पर ऑपरेशनों के निशान होने से पेट कुछ ऐसा दिखाई

देता, मानो किसी अनाड़ी बच्चे ने ग्लोब की पेंटिंग बना दी हो। छातियां कुछ-कुछ लटक आई थीं। फिर भी इन्हें देख बेचारा पति बहक जाता। मुझमें अति धार्मिकता उभर आई देख वह परेशान हो गया था।

इधर मैंने अपनी वासना की इच्छा को कुछ इस तरह से उतार फेंका था, जैसे सांप अपनी केंचुल उतार फेंकता है। दिखावे मात्र की भी इच्छा नहीं होती थी मेरी। इसलिए मैं तो अब पति के साथ सोने के काबिल ही नहीं रह गई थी, न ही अन्य लोलुप पुरुषों को लुभा पाती थी अब; लेकिन मेरी कविताएं अब भी लोग पढ़ते थे। उन्मुक्त प्यार पर मेरे लेख पढ़-पढ़कर कइयों के मन में गुदगुदी-सी उठा करती मुझे फांसने की। जाहिर था कि मैंने ही अपने लेखन द्वारा अपने बारे में गलत नक्शा बना दिया था उनके मन में, जबकि मैं तो कभी भी अति कामुक नहीं रही थी। सेक्स में मेरी रुचि कभी थी ही नहीं। वह तो बस अपने पति की प्रसन्नता के लिए उपहारस्वरूप स्वयं को सौंप दिया करती थी उसे।

हमारे परिचितों में से कुछ एक ने मुझे छूने-छेड़ने की कोशिश की और गंदे प्रस्ताव भी रखे। मैं डर गई, और जब मैंने उनके ऐसे अभद्र व्यवहार के प्रति अपनी घृणा व्यक्त कर दी तो वे ही लोग मेरे कट्टर विरोधी बनकर तरह-तरह की बातें उड़ाने लगे मेरे चरित्र के बारे में। अगर मैं खुल-खेलती उन लोगों के साथ तो उनकी घृणा की पात्र न बनती। सेक्स के प्रति अरुचि न रही होती मुझमें तो इतनी बदनाम भी न हो जाती मैं।

४५

नलपत को वापसी
क्या मेरे २४ वर्षीय दाम्पत्य की चूलें हिल गई थीं ?

प्रशांतक औषधियों के सरूर में
और अधिक आकर्षक हो उठती हूं मैं,
मेरे पति का कहना है।
धुंध-लदी धरती-सी डोलने लगती है मेरी वाणी
निंदियाए-से फूटते हैं शब्द
सपनों की खामोश वादियों से उठते हुए
हौले-हौले पंख पसारते-मूंदते सारसों की तरह
और ऐसे में शायद फटी गुड़िया-सा मेरा शरीर
और मेरे निढाल अंग
उसकी चंचल वासना के बंधन में
ठीक से बंध जाते हैं।
यदि वह दे सकता तो जरूर मीठी लोरियां दे-दे
और सुला देता
अपनी पत्नी की ऊंघती आत्मा को
और अधिक गाढ़ा कर देता उसकी बेहोशी को
प्रशांतक औषधियों के सरूर में
और अधिक आकर्षक हो उठती हूं मैं,
मेरे पति का कहना है।

असफल विवाह सिद्ध हुआ था मेरा। विवाह के परंपरागत अर्थों में। लम्बी खामोशियां थीं हम दोनों के बीच। मुझे लगता, ये कभी नहीं टूटेंगी। भले ही कभी-कभी मैं तोड़ने का प्रयास अवश्य करती। कभी अपने नन्हे-मुन्ने के बारे में दो-एक शब्द बोलकर, तो कभी बनिये के बिल को लेकर।

इतवारों की लम्बी दोपहरियां या फिर रातें काटने को जो शारीरिक खिलवाड़ किए जाते हैं, उनके तो मैं अयोग्य ही हो गई थी। महसूस करना तो बड़ी बात है, मैं तो सेक्स का दिखावा तक नहीं कर पाती थी अब। अपने शरीर को पति के पौरुष तले कुछ-कुछ संतोषजनक स्थिति में ला पाने के लिए मुझे जाने कितनी-कितनी प्रशांतक औषधियां खानी पड़ा करतीं।

मेरे पति ने बत्तीस वर्ष पूर्व बी० ए० पास की थी। लायोला कॉलेज से। अर्थशास्त्र में पदक मिला था उसे। बस, तभी से वह रिज़र्व बैंक की नौकरी बजा रहा था, और खट-खप रहा था भारतीय किसान की समस्याओं को लेकर। जहां तक मैं याद कर पाती हूं, उसके तो जिस्म तक से सदा दफ्तरी फाइलों की ही गंध सूंघी है मैंने। घर में उसके बिस्तर में, तकिये तले, जहां-तहां बस फाइलें ही फाइलें। उफ ! परेशान हो गई थी मैं तो इन सौतों से।

जब मैं जवान थी और मुझे अपनी भटकती भावनाओं को टिकाव देने के लिए उसके संग-साथ की जरूरत थी, तब तो एक बार उसने मुझे लगातार छः महीनों तक मेरी दादी के यहां भिजवा दिया था। सिर्फ इसलिए कि उसे उन दिनों अपनी एक दफ्तरी रिपोर्ट बनानी थी—'ग्रामीण ऋण सर्वेक्षण समिति रिपोर्ट'। उसके अफसर के सिर पर जो सवार था यह काम ; और इसलिए मेरा पति भी इस काम में अपनी आत्मा तक खपा डालने पर तुल गया था। अफसरों की इच्छा के आगे ऐसी बेबसी। भले ही इससे उसकी टुच्ची-सी नौकरी में कुछ उन्नति हो जाती, लेकिन मेरे भीतर जो कुछ भी गर्व उसके लिए था, वह तो चूर-चूर हो गया। शायद यही कारण था जब बाद में एक बार उसने अपने नये अफसर दुर्व्यवहार का जिक्र मुझसे किया तो मेरे मन में एक विरोध-पूर्ण हुलास-सा उभर आया था। निश्चित था कि उस समय मैं ठहाका मारकर हंस भी पड़ती, लेकिन उसके राख-से बुझे चेहरे को देख मैंने रोक ली थी अपनी हंसी। मुझे यह जानकर आश्चर्य का धक्का-सा भी लगा कि इस बीच अपनी लंबी ऊबाऊ नौकरी के कारण वह बदल गया है। इतनी लम्बी अवधि में यह बदलाव अगोचर ढंग से धीरे-धीरे आता चला गया था। उम्र से पहले ही बूढ़ा चला था वह। बीच-बीच पके बालों के छोटे-छोटे लच्छे उसके व्यक्तित्व की आभा बिगाड़ने लगे थे। दांतों का रंग भी बदरंग हो गया था। पर उसे कुछ होश न थी इस सबकी। वह तो बस जानता था सिर्फ कृषि सम्बन्धी रिपोर्ट। उफ ! कितना महत्त्वहीन अंश है यह इस विशाल जीवन के नाटक का ; लेकिन उसके निकट केवल यही महत्त्वपूर्ण था।

सहसा ही मुझे उसपर तरस आने लगा। मैंने पूछा, "आखिर तुम्हारा यह

रंग, मेरी सूरत ही अच्छी न लगती हो।"

हर शाम वह फाइलें साथ लिए घर लौटता, और सप्ताह में एक-आध बार किसी दूसरे शहर का दौरा भी लगाना पड़ता। वगल में फाइलें दवाए ही वह चल देता हवाई अड्डे की ओर। इन फाइलों में आधी-आधी रात तक सिर खपाया होता था, पर फिर भी उसका अफसर उसे क्षुद्र समझता था और इस इंतज़ार में रहता था कि कव कोई मौका मिले तो उसे हटाकर उसकी जगह अपना कोई चहेता ला बैठाए।

मेरे पति को लगता था कि जिन परियोजनाओं में विदेशी सहायता की आवश्यकता पड़ती है, उनका लाभ छोटे किसानों को नहीं पहुंच सकता, केवल बड़े किसान ही लाभान्वित होते हैं उनसे; लेकिन जव-जव भी उसने अपना यह संदेह अफसर के सामने सरकाया, तभी उसने या तो काट दी उसकी वात या फिर साध ली पथरीली चुप्पी। अफसरशाही तो मशीनी ढंग से सव कुछ चलाना चाहती है न। वस, फाइलें सरकती रहें एक वासे हाथ से दूसरे वोसीदा हाथ तक और होते रहें उनपर संक्षिप्त हस्ताक्षर; लेकिन एक पल को भी कहीं कोई स्वतंत्र चिंतन न होने पाए इस वात का विशेष ध्यान रखा जाता है ताकि अफसरशाही के चौखटे की कोई कील न ढीली हो जाए। सोचना-समझना या चिंतन करना तो यहां उतना ही बुरा समझा जाता है, जितना किसी कम्प्यूटर के उदर में कोई रुकावट आ जाना, क्योंकि उस सूरत में कम्प्यूटर से मिलने वाले सारे उत्तर गलत और वेचैनी पैदा करने वाले मिलते हैं।

यदि मेरा पति किसी दूसरे खानदान से रहा होता तो शायद वह इस सारे अपमान को जैसे-कैसे पी-पचा जाता।

मुझे और मेरे वड़े वेटे को भी समाजवाद में आस्था थी। हम यह मानकर चलते कि किसीको भी अपने प्रति तो ईमानदार होना ही होना चाहिए।

एक दिन सुवह-सुवह मेरा पति रिजर्व वैंक के कुछ अन्य लोगों के साथ हवाई अड्डे पर किसी जहाज़ की प्रतीक्षा में खड़ा था, तव भी उसके अफसर ने अकारण ही उसे अपमानित कर दिया था। ऐसे में मेरे पति के अन्य चतुर सहयोगी तुरंत इधर-उधर हो गए थे ताकि उस सवकी गवाही न देनी पड़ जाए उन्हें। उस समय मेरे पति ने टेलीफोन वूथ से मुझे फोन किया था घर पर। कांप रहा था उसका स्वर। वोला, "मैंने सिर्फ इतना ही कहा था कि हरदम मेरे पीछे क्यों पड़े रहते हैं आप, कि वस वह भड़क पड़ा मुझपर और लगा वाही-तवाही वकने।" उसने फोन पर ही मुझे सारी घटना कह सुनाई थी व्योरेवार।

मुझे गुस्सा आ गया। मैंने कहा, "अभी इस्तीफा दे दो और छुट्टी पाओ इस अपमानजनक नौकरी से। हम नलपत हाउस जाकर इज़्ज़त से रहेंगे।" उस समय फोन पर मैं लगभग चीख रही थी।

उन दिनों अनेक मंत्री, एम० पी० तथा राजनीतिज्ञ हमारे पारिवारिक मित्र थे, लेकिन उनमें से कोई भी कुछ नहीं कर पाया था हमारे लिए। हालांकि वे सब जानते थे एक मेहनती और ईमानदार आदमी को सताया जा रहा है।

मेरा पति जब सीधा खड़ा होता तो बिना जूतों के पूरा छ: फुटा था। जबकि उस बौने मरियल-से अफसर ने मेरे पति का आत्मविश्वास तक हर लिया था। मर्द न मर्द की जात, कमबख्त कठपुतले-सा तो लगता था वह। टीन के सिपाही की तरह झटके खा-खाकर तो चलता था।

मैं अपने पति को यह भी कैसे कह सकती थी कि सह जाओ ये आघात। जानती थी, वह सह नहीं सकेगा। और हुआ यह कि उसका स्वास्थ्य जवाब दे गया। थायराइड ग्रंथि खराब हो गई। मुझे और मेरे बेटों को बेहद तकलीफ होती, जब हम उसे अपने से हीन आदमी के हाथों तिरस्कृत होते देखते। मैंने झटपट अपना सामान समेटा और छोटे बेटे को साथ लेकर मालाबार चल दी अपने घर।

चाहती थी कि मेरा पति बैंक की नौकरी से इस्तीफा देने की बात पर गौर करे और चला आए मेरे पास, मेरी एस्टेट में आ बसे। किसी भी द्रविड़ के अहं को उस तरह का अपमान पी-पचा जाना गवारा नहीं हो सकता। और मैं चाहती थी कि मेरा पति इस बात को महसूस कर ले, क्योंकि यही सही अवसर था। उसके सहयोगी भी उससे मुंह फेर चुके थे। उनमें से कोई एक भी उस समय भी तो मदद को आगे नहीं बढ़ा था, जब उसे तीन घंटों के अन्दर-अन्दर अपनी कुर्सी खाली कर देने का हुक्म दे दिया गया था। हम जैसे लोग, जिन्हें मानव के सारभूत गौरव में आस्था है, सदा ही अकेले पड़ जाते हैं।

मेरा बड़ा बेटा मोनू त्रिवेन्द्रम चला गया था। डॉक्टर के० एन० राज के निर्देशन में काम करने। इसकी मुझे खुशी भी थी। मैं यह मानकर चलती हूं कि हर किसीको अपनी ही तरह के लोगों में उठना-बैठना और घुलना-मिलना चाहिए। अगर आपको ज़िंदा रहना है और अपने होश-हवास कायम रखने हैं तो इसके सिवा कोई चारा नहीं। अगर आप बौद्धिक हैं तो यह और भी अधिक अनिवार्य हो जाता है कि आप सिर्फ बौद्धिक व्यक्तियों के ही सम्पर्क में रहें, क्योंकि अन्य कोई भी तो आपको समझ नहीं पाएगा; बल्कि गलत समझेगा। मात्र जीवित रह पाने के लिए ही तो डंकटग्राट, रोजर फाई, क्लाइव बैल, लिटन स्ट्रेची, वर्जीनिया वुल्फ, लियोनार्ड वुल्फ, मैक्सन सिडनी टर्नर आदि प्रसिद्ध बौद्धिकों ने मिलकर अपना गुट बना लिया था, जिसका नाम था 'ब्लूम्सबरी-ग्रुप'। वे सदा अपने-आपमें ही सिमटे रहते। औरों से सावधान रहते कि कहीं कोई बाहर से घुसपैठ न कर आए उनके बीच, क्योंकि वे जानते थे, बाहर क्या है, बाहर की बाड़ें क्या हैं। यह कि उनकी नियति ही यह है—अलग-थलग रहकर अपना अकेलापन झेलना।

जब मैं मालाबार पहुंची तो मेरे सम्बन्धियों ने बड़ी कुटिलता से मेरी ओर देखा कि मैं क्यों अकेली चली आई हूं। पति साथ में क्यों नहीं। उन्हीं दिनों

एक प्रसिद्ध मलयाली पत्रिका में मेरी यही आत्मकथा पूर्व-घोषणा के साथ धारावाहिक छप चुकी थी और इसे लेकर मेरी खासी बदनामी फैल चुकी थी। शायद मेरे सम्बन्धियों ने सोचा कि हो न हो, इसी क़ारण पति-पत्नी में विच्छेद हो गया है, और चौबीस वर्षीय दाम्पत्य जीवन की चूलें हिल गई हैं।

मैंने उनके सवालों को दरगुज़र कर दिया और अपने पुराने घर की सफाई करने में जुट गई। दीवारों पर टंगे फ्रेम-मढ़े चित्रों के पीछे काले लचीले बिच्छू दुबके पड़े थे। हर कहीं शाम को चिमगादड़ें उड़ा करतीं और दिन के समय गुसलखाने में छत की कड़ियों में जा छिपतीं छत्ता बनाकर। मेरा बेटा बहुत डरता इनसे। छत पर शोर मचाती बिल्लियों से भी वह बहुत डरा करता। जब-जब भी कोई बिल्ली गुर्राकर किसी चूहे पर झपटती तो हम मां-बेटा दोनों डर जाते।

नलपत पहुंचने पर पहली रात ही मेरे बेटे ने कहा था, "चलो मम्मी, बम्बई लौट चलें।" और मैंने उसके नन्हे शरीर को अपने साथ चिपटाकर, अपनी नर्म सिल्की साड़ी में लपेट लिया था, और कहा था, "हमारा तो घर यही है। यहीं के हैं हम।"

नलपत में बहने वाले पवन के स्वर से अधिक सुरीला स्वर मुझे कहीं की हवा का नहीं लगा। वहां के तीनों तालाबों और पेड़ों के ऊपर से लहराती हुई ठंडी हवाएं, जो कभी-कभी समुद्र-तट से भी हो आती थीं और वहा लाती थीं अपने साथ—मछलियों की गंध और मछली पकड़ने वाली किश्तियों पर पुते तारकोल की बास भी।

मैंने वहां सात नौकर रख लिए थे। घर एकदम सुनसान-सा पड़ा था। आसपास कई कहानियां फैल गई थीं कि यहां भूत बसते हैं।

मेरी सबसे बड़ी नौकरानी सत्तर साल की बुढ़िया थी। नाम था कल्याणी अम्मा। उसीने मुझसे कहा था कि मैं शहरी कपड़े पहनना छोड़कर नायर औरतों की परम्परागत पोशाक पहनना शुरू कर दूं। उसने यह भी कहा था, "खूब सारे ज़ेवर पहनो न। नहीं तो जब मन्दिर वाले तालाब में नहाने जाओगी तो औरतें मज़ाक नहीं उड़ाएंगी तुम्हारा!" सो मैं एकदम परम्परागत हो गई थी। सारी साड़ियां-वाड़ियां इस-उस को दे दी थीं। विशेषकर उन टाइपिस्ट लड़कियों को, जिनके मन में उद्दीप्त थी शहर में जा बसने की भावना और मैं रहने लगी थी अपने पूर्वजों की वेशभूषा में। नीचे लपेट लेती थी तीन गज कपड़ा और ऊपर आधा गज। इसके सिवाय एक सफेद ब्लाउज़ और भारी-भरकम ज़ेवर, और माथे पर खींच लेती चंदन की लकीरें।

मेरे नौकर-चाकर बड़े खुश थे मेरे साथ। मैंने खेती-बाड़ी शुरू कर दी थी। ऊसर पड़े खेतों को फिर से खेती लायक बना लिया। अपने खेतिहर मजूरों के साथ मिलकर मैं गीत गाया करती और घुटने-घुटने कीचड़ में खड़ी होकर बीज बोया करती। वे लोग खुशी में चिल्ला पड़ते, "लौट आई हैं नलपत की मालकिन।" और उस क्षण मुझे पश्चात्ताप होने लगता कि मैंने काहे को

बम्बई, दिल्ली और कलकत्ता में इतने साल बरबाद कर दिए। दुखी होती मैं यह सोच-सोचकर कि क्यों मैं अपने घर, अपने पेड़ों और खेतों से अलग रही।

नलपत के हर बड़े पेड़ की छाल पर मेरा नाम गुदा हुआ था—जड़ से दो फुट ऊपर, लेकिन अब सिर्फ महकदार निरमतला पेड़ को छोड़कर बाकी सारे पेड़ काट डाले गए थे। नलपत का आंगन ऊसर-सा देखकर मैं रो दी थी। कहां तो कभी इसी आंगन में कित्ते-कित्ते छायादार पेड़ थे और छन-छनकर आया करती थी उनके पत्तों से दोपहरी धूप, जो गोधूलि-सी पड़ा करती थी आंगन की उस धवल रेती पर, जहां हम बचपन में खेला करते थे। मेरी दादी के कमरे के सामने वाला आम का पेड़ भी अब नहीं रह गया था। दादा जब मरणासन्न थे तो उन्होंने दादी से कहा था कि देखो, इस आम के पेड़ पर हर कहीं गुड़ियां लटक रही हैं···प्यारी-प्यारी गुड़ियां—रूपहली मुस्कानें बिखेरती हुईं।

इस आम के पेड़ का न रहना मुझे बहुत खला था। वैसी ही दुखी हुई थी मैं, जैसी कि दादी की मौत पर हुई थी।

मैं जंगली पौधों के बीच घूमती रहती—खोई हुई औरत की तरह, और ढूंढती रहती पुराने सीमा-चिह्न मैं अपने बचपन के घर में। भावुक होकर मैं उस बेगाने शहर में, वहां के तनावों के बीच लौटकर नहीं जाना चाहती थी और न ही चाहती थी कि फिर से भ्रमित हो जाऊं।

नागसमाधि पर के झाड़-झंखाड़ मैंने साफ किए और मूर्तियों में उग आए खरपतवार उखाड़ फेंके और मूर्तियों के दीप जला दिए। अपनी खत्तियों की मरम्मत के लिए मैंने एक बढ़ई लगा लिया। मेरी दादी के जमाने में हमारे खेतों की सारी फसल इन्हीं खत्तियों में रखी रहती थी। जो बढ़ई मैंने लगाया था, उसी से मेरे बेटे ने बढ़ईगीरी सीख ली थी। हमने दो गाएं भी खरीद ली थीं।

ग्राम्य-जीवन पर रची रचना-सा जीवन हो गया था मेरा। छुट्टी में जब मेरा पति मिलने आता तो कहता, "अरे, तुम लोग तो बड़े गुलगुले और चिकने हो गए हो यहां रहकर। मुझे भी लालच हो रहा है कि नौकरी-चौकरी छोड़कर यहां आ बसूं, पर एक साल और रुक जाऊं तो ठीक है। तब तक हमारा चिन्नन कॉलेज की पढ़ाई समाप्त कर लेगा। बम्बई जाकर हमने गलती ही की थी।"

बिलकुल ठीक कहा था उसने। मुझे भी यही लगने लगा था कि वहां के तौर-तरीके अपनाकर गलती ही की थी हमने। तड़कीले-भड़कीले शहरी कपड़े पहनने की आदत नहीं ही डालनी चाहिए थी हमें। मुझे तो चाहिए था कि सिर्फ सफेद कपड़े पहनती और ज़ेवर लादे रहती। रिज़र्व बैंक के छोटे-से फ्लैट का रख-रखाव करने और बनिये के बिलों का भुगतान करने में ही स्वयं को खपा नहीं देना चाहिए था मुझे। मैं तो नलपत की निर्मलता से जुड़ी हुई थी और नलपत मेरा था। काहे को काटा था मैंने इससे स्वयं को? क्यों कर दिया था इसे गंवार नौकरों के हवाले? ऐसा करके मैंने इस घर की आत्मा को कष्ट पहुंचाया था, और मैंने अनजाने में बहा दिया था इसकी आत्मा का रक्त···

४६

सिर्फ अमीरों को ही मुझसे नफरत थी…
और वही फैलाते मेरे बारे में रसीले कांड

बूचड़खाने की ओर…

अस्पताल का वह कक्ष जहां हृदय रोगी का
हर समय ध्यान रखा जाता है,
इस कक्ष में जल रहे बल्ब,
मानो पलकविहीन मीनाक्ष,
नहीं देख पाते जो
दीवार पार के प्रकाश में विलीन होती रात
और
भीड़ भरी सड़कों पर, उंड़िल रहे दिन की।
अस्पताल का वह कक्ष जहां हृदय रोगी का
हर समय ध्यान रखा जाता है,
जहां थके-मांदे राही
दम लेने को रुकते हैं
गाड़ लेते हैं तम्बू
एक रात आराम करने को।
किसी नखलिस्तान में
जैसे थम गया हो काफिला कोई
फैले हुए तपते रेगिस्तान का सफर

फिर से शुरू करने से पहले,
अस्पताल का वह कक्ष जहां हृदय रोगी का
हर समय ध्यान रखा जाता है।
और जहां हर कोई अपने-अपने सफेद तम्बू में लेटा है
गर्दन तक नींद में दफन
गोया फांसी पाने की प्रतीक्षा में हो,
और बिस्तरों तले दुबके पड़े है
अधूरे दिवास्वप्न,
दूरागत ढोल की आवाज-सी
बज रही हैं दिल की धड़कनें।
अस्पताल का वह कक्ष जहां हृदय रोगी का
हर समय ध्यान रखा जाता है।
जहां आधी रात को आता है लम्बा सांवला डाक्टर
हांपता हुआ, जैसे सपनो की गहराइयों से,
उठवाकर लाया गया हो,
बल्ब धुंधला रहे हैं उसकी आखें
जैसे धुंधला रहे हैं मरीजों के बुढाते हुए चेहरे
पड़े-पड़े अपने तकियों पर,
नींद में कंपते हुए।
चौड़े कंधों वाला डॉक्टर
हौले-हौले बढ जाता है आवारा भाप की तरह
मूंड हिलाता हुआ…

मलियाली छात्रों की मैं चहेती थी, और वे समर्थक थे मेरे नई के विचारों के; लेकिन अपने रिश्तेदारों को मैं एक आंख न भाती। उन्हें कि मेरे कारण उनका मान-सम्मान खतरे में पड जाएगा। दो दशक पू मालाबार में जिस प्रकार का घटिया सामन्ती समाज था, उसीके अंग थे उसीमें पले-बढ़े थे। वे अभी तक उन्ही पुरानी गली-सड़ी मान्यताओं से चि थे। भले ही वे मान्यताएं अब मर चुकी थी और उनके पिंजर-भर शेष थे। समृद्ध संयुक्त परिवारों के सदस्य होने के नाते उनके पास फुरसत ही थी, और थी उनके दासों और सेवकों की कमसिन लड़कियां, जिनमें वे वासना में अंधे हुए। उन्हें मुझसे यह भय था कि कहीं मैं उनके काले क पर ही न कुछ लिख डालूं। उनके इलाके में आए दिन 'दुर्घटनाओं' से होती रहती थी, उन दुर्घटनाओं के वास्तविक रहस्य मुझे पता थे, इसलि मुझसे भयभीत थे। मुझे तो वे लोग अनैतिक कहते थे, लेकिन मैं जानती असली अनैतिक वे स्वयं हैं। और असली अनैतिकता पलती ही हमारे इस कथित समाज के सशक्त बाजुओं में है।

वे लोग मेरे माता-पिता से मेरी शिकायतें करते। शिकायतें सुन माता-पिता परेशान होने के सिवा कुछ न कर सकते थे, विवश थे, क्योंकि यह उनके सामने स्पष्ट हो चुका था कि मुझे सचाई की लत लग चुकी है, और वे यह भी जानते थे कि मुझे अपने लेखन से कितना अधिक प्यार है। और यह भी सच है कि मुझे अपने माता-पिता और अपने बच्चों से भी अधिक प्यारा है मेरा लेखन। अगर कभी इस बात की ज़रूरत पेश आती कि मैं जो कुछ हूं, वैसी ही रहने दी जाऊं, यानी मात्र एक लेखिका तो यह तय था कि मैं चुनाव अपने लेखन के पक्ष में ही करती और झटक देती स्नेही पति और बेटों तक को।

मेरा कोई वश न था अपने लेखन पर। कुछ ऐसी ही विवशता थी, जिस विवशतावश गर्मी में अलाइयां फूट पड़ती हैं जिस्म पर। मेरे गांव के कुछ बड़े-बूढ़े आ जाया करते थे किसी-किसी शाम मेरे पास और मन में कपट लिए बैठ जाया करते आरामकुर्सियों पर सूनी-सूनी मुस्कानें बिखेरते चुपचाप। एक तो मैं वहां अकेली रह रही थी, पति साथ नहीं था। दूसरे यह कि अपने लेखन में यह स्वीकार कर चुकी थी कि मेरा कुछ लोगों से प्रेम-व्यापार चला है। इन्हीं कारणों से वे लोग शंकित थे। वे मन में भरे-पिए आते। बीमार शिकारी कुत्तों की तरह दीखते। मुझे अपनी बूढ़ी नौकरानी की सहायता से जैसे-कैसे जान छुड़ानी पड़ती।

दिनोंदिन मेरे शत्रुओं की संख्या बढ़ने लगी थी। भले ही कुछ सप्ताहों तक मुझे इस बात का पता नहीं चल पाया था। जिन दिनों मैं क्षेत्रीय फिलम-पुरस्कार समिति की जज बनकर त्रिवेन्द्रम गई हुई थी, उन लोगों ने मेरे पीछे मेरे आंगन में शव-भस्म रखने की एक हंड़िया गाड़ दी थी, लेकिन मैं टाल गई। फिर एक दिन कुएं की जगत पर मुझे एक सिरकटी बिल्ली पड़ी मिली। मैंने ध्यान से उसे देखा तो उस बिल्ली के शरीर में कुछ ठूंसा हुआ था—एक तांबे के टुकड़े पर गुदा हुआ मेरा नाम, एक अंडा, थोड़ी-सी हल्दी और जाने क्या अल्लम-गल्लम सिन्दूरी सा कुछ। तब मुझे लगा कि मुझे भी अपने दुश्मनों को डराने के लिए जादू-टोने का सहारा लेना चाहिए। मैंने अपनी बालकनी की दीवार पर काली का एक चित्र टांग दिया और हर रोज़ उसपर लाल फूलों की कुछ ऐसी मालाएं टांग देती, जो दिखने में किसी मानव की आंतों जैसी लगतीं। फर्लांग-भर दूर मेरे धान के खेत के पास से गुज़रता कोई भी उसे देख सकता था। इससे गांव वाले डर गए।

मैंने रखवाली के लिए एक कुत्ता भी पालना चाहा था, लेकिन कोई मिला ही नहीं। मेरे नौकरों में से दो ऐसे थे, जो लोगों के फुसलावे में आ गए और घूस लेकर मुझे ज़हर देने को तैयार हो गए। उन्होंने मुझे ज़हर तो दिया, लेकिन बहुत थोड़ी मात्रा में। आम तौर पर गरीब लोगों में एक आधारभूत गुण यह होता है कि अपने ऐसे मालिक के प्रति क्रूर नहीं हो पाते, जिससे उन्हें प्यार मिला हो। ज़हर दिए जाने की अगली सुबह जब मैं सही-सलामत सीढ़ियां उतर रही थी तो मुझे देखकर उन्होंने राहत की सांस ली थी।

मेरे नौकर भी मुझे प्यार करते थे और मेरे खेतिहर मज़दूर भी। मुझसे यदि

किसीको नफरत थी तो वे थे गांव के धनी लोग। वही मेरे जीवन के ढर्रे के बारे में रस ले-लेकर ऊटपटांग अफवाहें फैलाते थे।

वास्तव में वहां मेरा जीवन सीधा-सादा था। सुबह को मेरी नौकरानी मेरे लिए चाय ले आती। चाय पीकर मैं अपने खेतों में निकल जाती, धान और सब्जियों की जांच करती, अपनी गउएं चराती। फिर घर आकर नाश्ता लेती और नाश्ते के बाद अपने छोटे बेटे के साथ खेलती। तब तक नहाने का समय हो जाता। मेरी जवान नौकरानी मेरी हथेलियों और तलुओं में मेहंदी लगाती। फिर मैं तेल मल के नहाती। नहाने के बाद पूजाघर में जाकर पूजा-पाठ करती। एक नम्बूदरी ब्राह्मण वैज्ञानिक ढंग से मेरे तीनों देवी-देवताओं—गणपति, सूर्य और लक्ष्मी की पूजा करता। दोपहर को बारह बजे के बाद खाना खाकर शाम की चाय के समय तक सोती रहती। चाय के साथ कुछ मिठाइयां खाकर एक घंटे तक लिखती या संस्कृत पढ़ती। उसके बाद मैं फिर नीचे उतर जाती और अपने बेटों को साथ ले जाकर पेड़ों तले घूमती। फिर साढ़े सात बजे रात का खाना खाकर नौ बजे तक पढ़ती रहती।

आखिर क्या कमी थी मेरी नैतिकता में! लेकिन फिर भी गांव वाले मेरे बारे में कुछ न कुछ उड़ाते रहते, मेरे प्रेमियों को लेकर। मैं परेशान हो जाती। यहां तक कि एक रात मुझे दिल का दौरा पड़ गया। मैं फर्श पर ढेर हो गई और पसीने-पसीने हुई पड़ी रही, भुनी जाती मछली की तरह गीली-सीली। मेरे बेटे ने मेरे भाई मोहन दास को कालीकट में टेलीफोन किया। वह आया और मुझे नर्सिंग होम ले गया।

तीन घंटे का रास्ता था कार से। मेरा बेटा मेरा हाथ पकड़कर ठुनकने लगा तो मुझे लगा कि मैं अपने-आपसे कह बैठी हूं, 'नहीं अभी, मैं नहीं मरूंगी। ऐसे सुन्दर बच्चे को बे-मां का छोड़कर नहीं जाऊंगी। मेरे धान की कटाई भी होनी अभी बाकी है। अभी-अभी तो मैंने खेतीबाड़ी शुरू की है।'

कालीकट में मुझे एक नर्सिंग होम में दाखिल करा दिया गया। देश के सबसे अच्छे हृदय-रोग-विशेषज्ञों में से एक का था वह नर्सिंग होम। खतरा टल गया। मैं बच गई। उसके बाद मैं जिस कमरे में ले जाई गई, उसके ठीक सामने वेश्याओं की सड़क थी। मैं अपने बिस्तर पर पड़ी-पड़ी ही उधर देखती रहती।

लोगबाग गुजरते, रंग-बिरंगे कपड़े पहने। कभी-कभी एक-आध कार भी गुजर जाती।

मेरे कमरे के बाहर एक तख्ती लटकी हुई थी, जिसपर लिखा था—'नो विजिटर्स' यानी किसीको भी मिलने की इजाजत नहीं। इस तख्ती के कारण कोई तो क्या, मौत भी मेरे कमरे में नहीं घुस सकती थी। एक दिन दोपहर बाद मैंने सपने में देखा कि मौत आ गई है, लेकिन कठफोड़वा के भेस में। मेरी हड्डियों पर टक-टक करती हुई। और फिर देखते ही देखते वह कठफोड़वा जल-पाखी बन गया। वैसा ही जलपाखी, जैसा कि मैं अपने बचपन में दादी के पास

वे लोग मेरे माता-पिता से मेरी शिकायतें करते। शिकायतें सुन माता-पिता परेशान होने के सिवा कुछ न कर सकते थे, विवश थे, क्योंकि यह उनके सामने स्पष्ट हो चुका था कि मुझे सचाई की लत लग चुकी है, और वे यह भी जानते थे कि मुझे अपने लेखन से कितना अधिक प्यार है। और यह भी सच है कि मुझे अपने माता-पिता और अपने बच्चों से भी अधिक प्यारा है मेरा लेखन। अगर कभी इस बात की ज़रूरत पेश आती कि मैं जो कुछ हूं, वैसी ही रहने दी जाऊं, यानी मात्र एक लेखिका तो यह तय था कि मैं चुनाव अपने लेखन के पक्ष में ही करती और झटक देती स्नेही पति और बेटों तक को।

मेरा कोई वश न था अपने लेखन पर। कुछ ऐसी ही विवशता थी, जिस विवशतावश गर्मी में अलाइयां फूट पड़ती हैं जिस्म पर। मेरे गांव के कुछ बड़े बूढ़े आ जाया करते थे किसी-किसी शाम मेरे पास और मन में कपट लिए बैठ जाया करते आरामकुर्सियों पर सूनी-सूनी मुस्कानें बिखेरते चुपचाप। एक तो मैं वहां अकेली रह रही थी, पति साथ नहीं था। दूसरे यह कि अपने लेखन में यह स्वीकार कर चुकी थी कि मेरा कुछ लोगों से प्रेम-व्यापार चला है। इन्हीं कारणों से वे लोग शंकित थे। वे मन में भरे-पिए आते। बीमार शिकारी कुत्तों की तरह दीखते। मुझे अपनी बूढ़ी नौकरानी की सहायता से जैसे-तैसे जान छुड़ानी पड़ती

दिनोंदिन मेरे शत्रुओं की संख्या बढ़ने लगी थी। भले ही कुछ सप्ताहों तक मुझे इस बात का पता नहीं चल पाया था। जिन दिनों मैं क्षेत्रीय फिल्म-पुरस्कार समिति की जज बनकर त्रिवेन्द्रम गई हुई थी, उन लोगों ने मेरे पीछे मेरे आंगन में शव-भस्म रखने की एक हंड़िया गाड़ दी थी, लेकिन मैं टाल गई। फिर एक दिन कुएं की जगत पर मुझे एक सिरकटी बिल्ली पड़ी मिली। मैंने ध्यान से उसे देखा तो उस बिल्ली के शरीर में कुछ ठूंसा हुआ था—एक तांबे के टुकड़े पर गुदा हुआ मेरा नाम, एक अंडा, थोड़ी-सी हल्दी और जाने क्या अल्लम-गल्लम सिन्दूरी सा कुछ। तब मुझे लगा कि मुझे भी अपने दुश्मनों को डराने के लिए जादू-टो का सहारा लेना चाहिए। मैंने अपनी बालकनी की दीवार पर काली का एक चित्र टांग दिया और हर रोज उसपर लाल फूलों की कुछ ऐसी मालाएं टांग देती, जो दिखने में किसी मानव की आंतों जैसी लगतीं। फर्लांग-भर दूर मेरे धान के खेत के पास से गुजरता कोई भी उसे देख सकता था। इससे गांव वाले डर गए।

मैंने रखवाली के लिए एक कुत्ता भी पालना चाहा था, लेकिन कोई मिला ही नहीं। मेरे नौकरों में से दो ऐसे थे, जो लोगों के फुसलावे में आ गए और घूस लेकर मुझे ज़हर देने को तैयार हो गए। उन्होंने मुझे जहर तो दिया, लेकिन बहुत थोड़ी मात्रा में। आम तौर पर गरीब लोगों में एक आधारभूत गुण यह होता है कि अपने ऐसे मालिक के प्रति क्रूर नहीं हो पाते, जिससे उन्हें प्यार मिला हो। जहर दिए जाने की अगली सुबह जब मैं सही-सलामत सीढ़ियां उतर रही थी तो मुझे देखकर उन्होंने राहत की सांस ली थी।

मेरे नौकर भी मुझे प्यार करते थे और मेरे खेतिहर मजदूर भी। मुझसे यदि

किसीको नफरत थी तो वे थे गांव के धनी लोग। वही मेरे जीवन के ढर्रे के बारे में रस ले-लेकर ऊटपटांग अफवाहें फैलाते थे।

वास्तव में वहां मेरा जीवन सीधा-सादा था। सुबह को मेरी नौकरानी मेरे लिए चाय ले आती। चाय पीकर मैं अपने खेतों में निकल जाती, धान और सब्ज़ियों की जांच करती, अपनी गउएं चराती। फिर घर आकर नाश्ता लेती और नाश्ते के बाद अपने छोटे बेटे के साथ खेलती। तब तक नहाने का समय हो जाता। मेरी जवान नौकरानी मेरी हथेलियों और तलुओं में मेहंदी लगाती। फिर मैं तेल मल के नहाती। नहाने के बाद पूजाघर में जाकर पूजा-पाठ करती। एक नम्बूदरी ब्राह्मण वैज्ञानिक ढंग से मेरे तीनों देवी-देवताओं—गणपति, सूर्य और लक्ष्मी की पूजा करता। दोपहर को बारह बजे के बाद खाना खाकर शाम की चाय के समय तक सोती रहती। चाय के साथ कुछ मिठाइयां खाकर एक घंटे तक लिखती या संस्कृत पढ़ती। उसके बाद मैं फिर नीचे उतर जाती और अपने बेटों को साथ ले जाकर पेड़ों तले घूमती। फिर साढ़े सात बजे रात का खाना खाकर नौ बजे तक पढ़ती रहती।

आखिर क्या कमी थी मेरी नैतिकता में! लेकिन फिर भी गांव वाले मेरे बारे में कुछ न कुछ उड़ाते रहते, मेरे प्रेमियों को लेकर। मैं परेशान हो जाती। यहां तक कि एक रात मुझे दिल का दौरा पड़ गया। मैं फर्श पर ढेर हो गई और पसीने-पसीने हुई पड़ी रही, भूनी जाती मछली की तरह गीली-सीली। मेरे बेटे ने मेरे भाई मोहन दास को कालीकट में टेलीफोन किया। वह आया और मुझे नर्सिंग होम ले गया।

तीन घंटे का रास्ता था कार से। मेरा बेटा मेरा हाथ पकड़कर ठुनकने लगा तो मुझे लगा कि मैं अपने-आपसे कह बैठी हूं, 'नहीं अभी, मैं नहीं मरूंगी। ऐसे सुन्दर बच्चे को बे-मां का छोड़कर नहीं जाऊंगी। मेरे धान की कटाई भी होनी अभी बाकी है। अभी-अभी तो मैंने खेतीबाड़ी शुरू की है।'

कालीकट में मुझे एक नर्सिंग होम में दाखिल करा दिया गया। देश के सबसे अच्छे हृदय-रोग-विशेषज्ञों में से एक का था वह नर्सिंग होम। खतरा टल गया। मैं बच गई। उसके बाद मैं जिस कमरे में ले जाई गई, उसके ठीक सामने वेश्याओं की सड़क थी। मैं अपने बिस्तर पर पड़ी-पड़ी ही उधर देखती रहती।

लोगबाग गुज़रते, रंग-बिरंगे कपड़े पहने। कभी-कभी एक-आध कार भी गुज़र जाती।

मेरे कमरे के बाहर एक तख्ती लटकी हुई थी, जिसपर लिखा था—'नो विज़िटर्स' यानी किसीको भी मिलने की इजाज़त नहीं। इस तख्ती के कारण कोई तो क्या, मौत भी मेरे कमरे में नहीं घुस सकती थी। एक दिन दोपहर बाद मैंने सपने में देखा कि मौत आ गई है, लेकिन कठफोड़वा के भेस में। मेरी हड्डियों पर टक-टक करती हुई। और फिर देखते ही देखते वह कठफोड़वा जल-पाखी बन गया। वैसा ही जलपाखी, जैसा कि मैं अपने बचपन में दादी के पास

रहती हुई देखा करती थी, नलपत के पास वाले तालाब में।

मेरी आंख खुली तो मैं पसीने से तर-बतर थी। तभी मेरी नौकरानी ने मुझे बताया कि एक युवक कई बार आ चुका है और मुझसे मिलना चाहता है और अपनी ऑटोग्राफ बुक में मेरे हस्ताक्षर चाहता है।

जब मैंने उस युवक की आवाज़ सुनी तो बड़ी प्यारी लगी थी—मखमली-सी भरी-भरी। इसीलिए मैंने उसे भीतर बुलवा लिया था। मेरे बिस्तर के पैताने की तरफ खड़ा वह एक धब्बा-भर दिखाई दे रहा था। मैंने उससे पूछा, "तुम्हारा नाम क्या है?"

"मोहन।" उसने कहा, "मैं समझ नहीं पा रहा हूं कि क्या बोलूं।"

"तो ठीक है, चुप ही रहो, सुरक्षित रहोगे मोहन।" और फिर मैंने उसकी ऑटोग्राफ बुक में अपने हस्ताक्षर कर दिए। मुझे ईर्ष्या हो रही थी उसके चुप रह पाने की सामर्थ्य पर; और तभी मुझे लगा कि काश, मैं भी चुप रह पाई होती। मैंने तो शब्द कह-कहकर अपना जीवन ही बर्बाद कर डाला था। शब्दों से मैंने तलवारों का काम लिया था—शुद्धिकरण नृत्य करने के लिए, लेकिन अनजाने में ही बह गया था रक्त।

अगली ही सुबह उस नवयुवक ने मेरे लिए उपहार भिजवाया। ढेरों गुलाब। बीच में दो पीले सूर्यकमल भी। देर तक सहलाती रही थी उन फूलों को। गुलाब तो तीन दिन तक मेरी खिड़की की सिल पर पड़े रहे थे। मैं चाह उठी थी कि मोहन से मिलूं और धन्यवाद दूं उसे उस प्रसन्नता के लिए, जो मिली थी मुझे उन फूलों से, लेकिन वह फिर कभी नहीं आया।

जब मुझे अस्पताल में आराम करते-करते तीन सप्ताह हो गए तो मैंने डॉक्टर को फुसलाया कि किसी तरह मुझे घर भिजवा दे। फसल कटने का समय था और मैं चाहती थी कि ऐसे में वहां मौजूद रहूं, ताकि अपनी उपलब्धि पर गर्व कर सकूं। जब मैं कार में घर लौट रही थी तो रास्ते में पहाड़ी दर्रे के पास मैंने बूढ़े ढोर-डंगरों को बूचड़खाने की ओर हांके जाते हुए देखा। सूखे-सूखे नितंब थे उनके और कंधों पर सिंदूर पुता हुआ था।

जाने क्यों मेरा मन हो आया कि चाहे एक पल को ही कार रोककर मैं नीचे उतर जाऊं और जा मिलूं उन ढोरों में। मनुष्यों को तो जानवरों की तरह दागा नहीं जाता, उन्हें तो सिर्फ ई० सी० जी० की रिपोर्ट थमाकर और प्रशांतक औषधियां देकर घर भेज दिया जाता है।

४७

तांत्रिक आया रात को साइकल पर···

टूटे हुए घरों के बिखरे मलवे में से,
चुन लेना मेरा कटा हुआ चेहरा,
अपनी दुल्हन का चेहरा,
थोड़ा-सा बदल गया जो इन वर्षों में।
मैं भुला दूंगी,
अपने हनीमून का फरेब,
कैसे सनकी हैं हम दोनों,
तुम और मैं।
मुझे प्यार करना तब कठिन था, तुम्हारे लिए
सो अब और भी कठिन है।
लेकिन, करना फिर भी किसी दिन
भले ही मजा लेने को।
सड़सठ किलो के बुढाते हुए मांस को,
बेकार हो चुके जिगर को
और ऐसे दिल को जिसमें,
खून की रवानी कम हो गई है।
हां करना किसी दिन जरूर प्यार
भले ही मजा लेने को,

और दिखाना मुझको कि
क्या रहा होता हमारा जीवन
यदि तुमने दिया होता प्यार…

नर्सिंग होम से लौटने के वाद मेरा जीना मुहाल हो गया। मेरा सबसे वड़ा वेटा, जो मेरी वीमारी के दौरान तीमारदारी करने आया हुआ था, स्वयं वीमार पड़ गया। छोटे वेटे से खसरे की छूत लग गई थी उसे। दोनों तेज़ वुखार में वेसुध पड़ गए। वड़ी मनहूस-सी चमक दिखती मुझे उन दोनों के चेहरों पर।

मैं अपने वायें भाग के जिस दर्द को लेकर अस्पताल गई थी, वह दर्द अव भी चिपटा हुआ था मुझसे, वावजूद प्रशांतक औषधियां खाते रहने के। नहीं चाहती थी कि यह दर्द हो, क्योंकि मैं अपने वेटों की तीमारदारी करना चाहती थी। आंखें तक न खोल पाते थे वेचारे। वन्द आंखों पर लाल-लाल नसें उभर आई थीं।

गांव में वर्फ भी नहीं मिलती थी। वर्फ की पट्टियां उनके माथे पर रखकर तो तेज़ वुखार हल्का कर नहीं सकती थी। खाली गीली पट्टियां धर-धरकर ही सब्र कर लेती। आतंक से सिहर उठी थी मैं। नैतिक वल भी खो वैठी थी आखिर। यहां तक कि जव मेरी नौकरानी ने राय दी कि तांत्रिक वुलवाकर अपने शत्रु का पता लगवाऊं तो मैं झट मान गई थी।

तांत्रिक आया रात के समय, साइकल पर। वालकनी में उसने कुछ आड़ी-तिरछी लकीरें खींचीं और विछा दीं अपनी कौड़ियां। फिर लगा लगाने गुपचुप कोई अपना हिसाव-किताव। हट्टा-कट्टा जवान था वह। घुंघराले वाल और लिश्कारे फेंकती त्वचा। गले में सोने की मोटी चेन थी, जिसमें गोल लॉकेट लटका हुआ था। उसने मुझे तीन तागे दिए—एक मेरी कलाई के लिए और दो मेरे वेटों की कलाइयों पर वांधने के लिए। साथ ही वोला, "उन लोगों ने मुहर्रम का टोना किया है तुम लोगों को मारने के लिए, लेकिन मैं कोशिश करूंगा कि ये वच्चे वच जाएं।"

मैंने उसे वीस रुपये देकर विदा किया। फिर वे तागे वेटों की कलाइयों पर वांध दिए। वे वेचारे इतने कमज़ोर हो चुके थे कि विरोध भी नहीं कर सकते थे; लेकिन मैं ही अपने-आपसे वहस करने लग गई थी और लगातार छः घंटों तक जागती हुई वहसती रही थी स्वयं से कि इतने में सुवह हो गई और मैंने शायद काट डाले थे वे तागे और फेंक दिए थे खिड़की से वाहर। आखिर टैट्रा-साइक्लीन नामक औषधि ने ही स्वस्थ किया था वेटों को।

मेरे लिए तो दर्द के मारे चल पाना मुहाल था। सीने में वाईं ओर दर्द वरावर वना हुआ था। गोया हंसिया घोंप दिया हो किसीने। घवराकर मैंने पति को तार दिया वम्वई। झट आ पहुंचा वह हमारे पास। सीढ़ियों में जव उसके भारी कदमों की आवाज़ मुझे सुनाई दी तो मैं चहककर ताली वजा उठी थी। लगा कि फिर से सुरक्षित हो जाऊंगी अव।

छोटे बेटे ने पिता से कहा, "पापा, हम ले चलो न बम्बई। हम तो मर जाएंगे यहां।"

और मैंने अपनी जायदाद का जिम्मा अपने चचेरे भाई और एक नौकर पर डाल दिया और चल दी फिर से बम्बई को। काफी तजरबे कर चुकी थी मैं और मन से चाह उठी थी कि टिककर जी लूं कुछ। मेरे बेटे को पुराना वायु रोग था, जिसके कारण उसे बुखार हो जाता था। दो साल तक पेनिसिलीन के उपचार के बाद ठीक हुआ। फिर उसीके सुझाने पर हमने उसे स्कूल में दाखिल कर दिया। वह किसी ऐसे स्कूल में पढ़ना चाहता था, जहां उसे अच्छा व्यवहार मिल सके। उसके पहले वाले स्कूल की तरह न हो, जहां के अध्यापक बड़ा दुर्व्यवहार किया करते थे। इसलिए हमने 'दून इंस्टीट्यूट' में दाखिल करा दिया उसे, चौथे स्टैंडर्ड में।

वह खासे जोश में था, जब पहली बार स्कूल से घर लौटा था। आते ही बोला, "अम्मा, बड़े अच्छे हैं हमारे मास्टरजी···बहुत ही प्यार करते हैं।" मैंने बिस्तर में पड़ी-पड़ी ही उसे खींचकर सीने से लगा लिया। साथ ही दयामय भगवान का आभार भी माना। बेटे को अपने सारे मास्टर पसंद आए थे। यहां तक कि जब वह बीमार पड़ गया, तब भी तरसता रहा था स्कूल जाने को और बार-बार मुझे उकसा रहा था। सप्ताहांत में वह एक लघु पत्रिका का संपादन करता। पत्रिका का नाम उसने रख रखा था 'औपांग'। इसमें वह विभिन्न नामों से कविताएं-कहानियां लिखा करता।

और मैं अब जीवन में पहली बार अपनी संचित शारीरिक शक्ति को कंजूसी से खर्च करना भी सीख गई थी। सिर्फ लिखने में ही जो शक्ति खर्च होती, बस वही करती, क्योंकि लिखने में मुझे जितना आनन्द आता, संसार की अन्य किसी चीज में न मिलता। मैं अपने बिस्तर पर तकियों के सहारे बैठी टाइप करती रहती। अपने जीवन में जो कुछ सीखा था मैंने, उससे मेरा अधिकांश अज्ञान मिट गया था, जोकि मैं बताना चाहती थी अपने पाठकों को। तब तक मैं यह भी समझ चुकी थी कि किसी भी लेखक के लिए उसके पाठक ही सब कुछ होते हैं, और यह भी कि लेखक क्योंकि किसी सुप्रकाशित ग्लास टैंक में पड़ी सोनमछरी सरीखा सर्व-प्रकट होता है, इसलिए वह अपने परिवार के सदस्यों के लिए परेशानी का कारण बन जाता है।

अक्सर मैं चाह उठती कि अपना अंग-अंग उधेड़कर किसी कैनवास पर कोलाज बना दूं—एक बड़े-से कैनवास पर चिपकाकर अपना दिल, जिगर, आतें, प्रजनन अंग, खाल और बाल तक, और फिर दान कर दूं अपने पाठकों को वह पेंटिंग। मेरा कुछ भी तो ढका-छिपा नहीं है उनसे, गोपनीय नहीं, कोई भेद नहीं। जब-जब भी रोई हूं मैं, मेरे पाठक मेरे साथ रोए हैं। हर बार जब मैं दुल्हन-सी बन-ठनकर अपने किसी प्रेमी से मिलने गई हूं, मेरे पाठक भी मेरे संग-संग चले हैं। वयसंधिकाल में जब मेरी पहली कहानी छपी थी और मुझे विवादास्पद कह

दिया गया था, तभी से मेरे पाठकों की नज़रें मुझपर लगी हुई हैं और सर्वदर्शी भगवान की तरह मेरा पीछा करती आ रही हैं। मेरे लेखन और बीमारी ने मुझे एक द्वीप में रूपांतरित कर दिया है। मुझ तक पहुंचने के लिए लोगों को लीक से हटकर आना पड़ता है—डोंगियों और नौकाओं में। मौन समाधि लगाकर मैंने जो प्रार्थनाएं की हैं, उनके मुझे फल भी मिले और मैं कुछ-कुछ टैलीपैथी भी जान गई थी। दूसरों के मन की बात बिन कहे जान लेती। अगर कोई व्यक्ति मेरे ड्राइंगरूम में आ जाता, जो मुझे पसंद न करता तो मैं पहले से ही सूंघ लेती कि उसके इरादे क्या हैं, इसलिए उससे मिलने से ही मना कर देती और कम्बल में सिमटकर पड़ जाती अपने बेडरूम में, जोकि मेरा काम करने का कमरा भी था। वहीं बैठकर लिखा करती।

मुझे चाहिए था प्यार और सहानुभूति, किसी प्रकार की भी घृणा नहीं, वर्ना काम कैसे कर पाती! मुझमें तो इतनी शक्ति भी नहीं रह गई थी कि उठकरअपने बाल ही बाह लेती। इसलिए ऐसे लोगों के साथ बैठकर बतियाने में शक्ति नष्ट करने की क्या तुक थी, जो दिल से तो मुझे नफरत करते थे, सिर्फ उत्सुकतावश चले आते थे। वास्तव में जो मेरे मित्र थे, वही मिलने आते तो भला लगता। खुशखबरियां लाते। बड़ी राहत मिलती।

मैं सप्ताह में लगभग एक हज़ार शब्द टाइप किया करती। संपादक लोग जिन विषयों पर लिखने के लिए कहते, मैं लिख भेजती। वे अच्छी तरह जानते थे कि मैं कोई खास पढ़ी-लिखी नहीं और अधिक गंभीर मामलों में मेरा कोई दखल नहीं, लेकिन जो पाठक मेरे ईमानदार लेखन के कारण मुझे पसंद करते थे, उन्हें संतुष्ट करने के लिए लिखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता होती। गृहिणी के रूप में मैं एकदम बेकार थी। चाय की केतली तक उठाती तो सांस फूल जाती; लेकिन लिखना खूब भला लगता; और इससे वाकई मुझे खुशी मिलती।

४८

मिट गईं वे पुरानी भूखें, जो कभी सताया करती थीं मुझे

तैरना सीखो तो
मत कूदो उस नदी में जिसका कोई सागर न हो,
कोई मंज़िल न हो,
और सिर्फ़ बहते जाना ही नियति हो जिसकी
और रुकना हो थकी-टूटी नदियों की तरह
जिन पर पुरानी यादों की काई जमी होती है।
तैरना हो तो सागर में जाकर तैरो
विशाल नीले सागर में
जहां की पहली ही उछाल जो तुम्हें मिले तो लगे कि
अरे! यह तो मेरा ही
शरीर है
वही परिचित
पीड़क-कोट है।
पर यदि तुम पार उतरना सीखो तो
तो फिर सुरक्षित हो
हां, इसके बाद सुरक्षित हो
क्योंकि तब कोई अन्तर नहीं पड़ेगा
यदि डूब भी जाओ तो…

स्वास्थ्य-लाभ के दो लंबे सप्ताहों के दौरान मेरे मस्तिष्क में हर समय छाए रहते मेरे बचपन के दिन···नलपत में बिताए बचपन की यादें। मेरे दिल को राहत देने के लिए डॉक्टरों ने जो गोलियां दी थीं, उनके सरूर की धुंध में मुझे नलपत के परिचित दृश्य दिखाई पड़ते और मरे हुओं की आवाज़ें सुनाई पड़ा करतीं।

घर के पिछवाड़े वाले तालाब पर धूप बिखरी होती और उस चमचम करते पानी में मैं घंटों खेला करती थी। मेरे पतले-पतले अंग पानी को पीटते उछालते रहते थे। गहरे पानी में तैर रहे होते कछुए और जलव्याल—अपनी दूधिया आंखों से मेरी ओर निहारते हुए। और मैं बेलगाम होती थी उन-उन क्षणों, एकदम निडर। कोई खुशी भी नहीं थी, पर फिर भी एक अनाम-सी शांति अनुभव करती थी।

मेरे सपने सदा सफेद मोतियों-से चमकते रहते थे। लगता कि कभी मरेंगे ही नहीं ये सपने; लेकिन जैसे ही शाम घिर आती, सांप की केंचुल की तरह उतार देती मैं अपने सपनों की केंचुली। लगता, गोया नींद से उठी हूं और आ पहुंची हूं किसी अजनबी दुनिया में। चाहने लग गई थी मैं कि साहस करके बना लूं मैं भी अपनी कोई पहचान···लेकिन मैं भटकती रही थी धुंधलकों में, भटकते कस्तूरी मृगशावक-सी अपने आपे को किसी अन्य में तलाशती।

मेरा स्वास्थ्य एकदम नष्ट हो चुका था। ठीक होने की कोई उम्मीद नहीं रही थी, लेकिन जब मेरा तन रोग-शय्या पर निढाल पड़ा होता तो मन शिकारी कुत्ते की तरह चौकन्ना हो जाता। नींद मेरी आंखों से विदा हो चुकी थी। मिट चुकी थीं वे सारी पुरानी भूखें, जो कभी मेरे लचीले तन को सताया करती थीं। अब तो किसी सुन्दर से सुन्दर पुरुष को देखकर भी प्यार की भूख पैदा न हो सकती थी मुझमें।

मेरी इच्छाएं ताल में खिले कमल थीं, जो कभी भोर को खिल जाया करते और सांझ को पत्तियां समेट लिया करते थे; लेकिन अब सदा के लिए मुरझा चुके थे मेरी इच्छाओं के कमल, और ताल सूखकर सपाट हो चुका था।

अगर मेरे माता-पिता सही-गलत के लिए रोकते-टोकते भी, तब भी मैं वैसा ही जीवन जीती, जैसा कि मैंने जिया। मेरा पक्का विश्वास है कि ज्ञान की सही परिभाषा है खुलकर जीवन जीना। मैं किसी भी प्रकार की सुरक्षा के लिए सूक्तियों के खूंटों से अपना जीवन नहीं बांध सकती थी। मैंने सदा जोखिम लिए, खतरे उठाए। एक-एक वाक्य जो मैं लिखती, पूरी ईमानदारी से लिखती; और इस तरह मैंने जला डाली थीं वो सारी किश्तियां, जो मुझे सुरक्षा के कगार पर ले जा सकती थीं।

सोचती हूं कि आखिर जीवन में मुझे हासिल क्या हुआ? सिर्फ एक धुंधली-सी आस कि मेरे कुछ पाठक हैं, जिन्हें मेरी पुस्तकें पसन्द हैं? भले ही उन्होंने कभी मुझ तक अपनी पसन्द पहुंचाई नहीं, फिर भी मैं उन्हीं के लिए लिखती

आई हूं, बावजूद इसके कि मुझे गालियों-भरे खत बराबर मिल रहे हैं। मेरी रचनाएं पढ़-पढ़कर शुद्धतावादी लोग नाक-भौं सिकोड़ते हैं, लेकिन मैं भी एक ही ढीठ हूं। जानती हूं कि खेल खत्म हो चुका, दर्शक उठकर जा चुके, और सारा हंसी-ठट्ठा भूलकर अपने बिस्तरों में जा पड़े हैं, फिर से अपनी घरेलू चिंताएं ओढ़कर।

मेरे कुछ कम्युनिस्ट मित्र मुझसे पूछा करते हैं कि आखिर मैंने अपने जीवन में आम आदमी के लिए क्या किया? और यह कि क्या मुझे सिर्फ गरीबों और दलितों के लिए ही नहीं लिखना चाहिए था? मैं चुप रहती हूं।

सुबह-सुबह अनेक भूखमरे लोग जाने कहां-कहां से निकलकर टूट पड़ते हैं कूड़े-कचरे पर कुछ खाने को ढूंढने। जिन दिनों मैं कुछ ठीक-ठाक होती हूं तो अपने बरामदे में खड़ी होकर यह सब देखा करती हूं।

एक जवान पगली मुझे अक्सर दिखाई पड़ जाती है। रात को जब वह किसी पेड़ तले अधनंगी सोई पड़ी होती है तो लोफर आकर उसे सताते हैं। कभी मांसल रहा होगा उसका शरीर, लेकिन अब दुबला गया था और चेहरे पर झुर्रियां भी दीखने लगी हैं। जाने किनकी बेटी रही होगी और जाने कहां खो गए होंगे उसके मां-बाप। किसी-किसी दिन तो वह बिल्कुल नंगी टहलती हुई हमारे घर के सामने से गुजरती तो मुस्करा देती। मैं कोई कोट या साड़ी फेंक देती तो वह बिन देखे ही तटस्थ रूप से लेकर चल देती, गोया उसे उम्मीद रही हो कि कपड़े आकाश से टपक पड़ेंगे।

भेलपूरी वाले के इर्द-गिर्द जुटी बच्चों की भीड़ अक्सर दिखाई देती है। अमीर बच्चों को खाते देखते हैं और तरसते रहते हैं। मैंने अक्सर देखे हैं उनके लटके हुए चेहरे और फैली हुई आंखें। गरीब लोग स्वभाव से ही नियतिवादी होते हैं और यह स्वभाव उनका परम्परागत होता है। वे लोग ऐसे न होते तो हम कहां होते आज? हम, जो स्वार्थी हैं, आत्म-केन्द्रित हैं, जिनके सामने मोटापे की समस्या है, गोरे-काले की समस्या है, या फिर हैं समस्याएं टैक्सों की।

यदि ऐसे न रहे होते वे लोग तो टिड्डी-दल की तरह छा-खा गए होते हम को अब तक। नोच खा गए होते हमारा भरा-पूरा मांस और फेंक दी होती हमारी हड्डियां कूड़े के ढेरों पर। मुझे दिख रहा है, क्या होने वाला है। भले ही धुंधला-धुंधला दिख रहा है। और कभी-कभी कांप उठती हूं।

बीमार आदमी को काफी समय मिल जाता है संसार की गम्भीर समस्याओं पर विचार करने को। मैं तो बहुत ही कम काम करती हूं। कभी-कभार ही लिखने बैठती हूं। पर चाहे कुछ भी कर रही होऊं, मेरे दिमाग में हमेशा एक टिक-टिक बनी रहती है। कुछ न कुछ सोचती ही रहती हूं मैं। कोई न कोई ऐसी योजना, व्यावहारिक योजना, जो मैं सुझा सकूं अपने देश के शासकों को।

मेरी एक योजना है कि प्रत्येक मध्यवर्गीय घर से एक-एक रुपया इकट्ठा किया जाए और फिर उस पैसे से झुग्गी-झोंप

पर मकान बनाए जाएं, ताकि उनके बच्चे स्वस्थ वातावरण में रह सकें और उनकी आंखों से निराशा का अंधेरा दूर हो जाए। मेरी यह भी योजना है कि होटल वालों से कहा जाए कि अपनी आमदनी का दसवां भाग हर रोज गरीबों को खिलाने पर खर्च करें।

मैं 'ज्योत्सना कला एवं शिक्षा समिति' की अध्यक्ष हूं। इस नाते मुझे अकसर भाषण-वाषण देने पड़ते हैं, और मैं प्रायः कहा करती हूं कि गुरुकुल-प्रणाली पर एक ऐसा स्कूल चलाया जाए, जहां विभिन्न देशों के ऐसे अध्यापक नियुक्त किए जाएं, जो अपना सर्वस्व झोंक दें उसमें। हर अध्यापक के पास दस-दस बच्चे हों और वे उन्हें पुत्रवत् मानें।

कोई भी तो आगे नहीं आता मेरे सपनों को साकार करने। सब लोग इतने व्यस्त हैं कि किसीके पास फुरसत ही नहीं है। लपक-झपक रहे हैं बसें पकड़ने को। उलझे पड़े हैं खाते मिलाने, या फिर पिटे हुए राजनीतिज्ञों को उभारने में, अथवा नपुंसक चोरबाजारियों की भड़वागिरी करने में।

किसीने मुझसे नहीं पूछा कि मैं इंदिरा गांधी के बारे में क्या सोचती हूं, किसिंगर के बारे में क्या सोचती हूं या फिर जयप्रकाश नारायण को कितना समझती हूं। मुझे तो सभी यह कहते मिलते हैं कि मैं अब भगवान का भजन करूं, ताकि मुझे दूसरे जहान में वह सब न झेलना पड़े, जो कुछ मैंने इस जहान में झेला है।

४९

आखिर कौन होते थे हम उनके देवता के पास बैठने वाले !

कंटीली पत्तियों में झींगुर-से दीख रहे हैं बौने-बौने
वे मजदूर जो बल्लियों-पाटियों गुथे मचानों पर
चढ़कर बना रहे हैं मकान अजाने अमीरों के लिए,
किसी-किसी दिन गर्म आकाश में
तेलुगू गीतों के टुकड़े उड़-उड़ आते हमारी ओर
और हम सुनते बड़े ध्यान से,
लेकिन, बेकार ही इंतजार करते हम,
विनम्र व्यक्तियों के करकश संदेश का,
कई सुरों में उनकी आवाज जरा-सी लरज जाती ।
कुछ इस तरह
गोया अपने नायक की खुशी
झेली नहीं जा रही उनसे ।
मानो इतना बड़ा झूठ हो, जिसे निगल नहीं पा रहे वे
पर सूर्यास्त के बाद अश्लील हो उठते उनके मजाक
उभर आती उनकी वासना,
दुर्वच खिलौने से मिट्टी के
पिता प्रकाश के
ये धरा-सुत

किसी अभागे पौराणिक वृक्ष की उजड़ी शाखों से हाथ जिनके
पर इनके श्रम की ठंडी छाया
सहज अनुग्रह बरसाती है
उन नास्तिकों के विशाल भवनों पर भी···

जब मैं जवान थी और हम लोग कुफे परेड में रहा करते थे, तब नारीमन प्वॉइंट पर मकान नहीं बने थे। समुद्र ही समुद्र दिखाई पड़ता था—झागदार गोलाइयों में, लेकिन तट से कुछ हटकर एकदम साफ और नीला, जिसपर दो-एक नौकाएं हौले-हौले तैरती दिख जाया करतीं। बाद में सागर-तट का भराव कर-करके समुद्र को परे धकेल दिया गया और उस गंजी खोपड़ी-सी तटीय धरती पर ऊंची-ऊंची इमारतें उसार दी गईं।

बम्बई में मकान बनाने वाले कारीगर ज़्यादातर आंध्रप्रदेश के ही हैं, जोकि अब यहीं के नागरिक बन चुके हैं और अपने बच्चों के साथ भी मराठी बोलने लगे हैं। इनके जिस्म सांवले और सुगठित, आवाज़ ऊंची और चाल फुर्तीली। देखते ही लगता है, समय बड़ा कीमती है इनके लिए और हर समय अफरा-तफरी मची रहती है इन्हें। जब कोई इमारत बन रही होती है तो ये उसीके पास ईंट-गारे की झोंपड़ियां बनाकर रहने लगते हैं। नालीदार चादरों की छतें डाल लेते हैं उनपर।

इनकी झोंपड़ियों के पिछवाड़े ऊंची-ऊंची नई इमारतें और उस पार मंत्रियों के बंगले। बीच में बसा इनकी झोंपड़ियों का गांव-सा। इनकी बस्ती में बनी पग-डंडियां और खूंटों-बंधी दुधारू बकरियां और बीच में एक कुआं, जिसपर शाम को गगरियां लिए जल भरने जुटी इनकी औरतें—पूरा का पूरा ग्रामीण दृश्य।

गणेश-पूजा वाले सप्ताह में ये लोग एक कच्चा चौंतरा-सा उसारकर उसपर गणेशजी की मूर्ति स्थापित कर लेते हैं, और फिर शाम को काम-धाम और स्नान, खान-पान से निपट-निपटाकर मंजीरे-करताल ले बैठ जाते हैं गाने-बजाने—ऊंचे-ऊंचे स्वरों में। उनके गोल-गोल आंखों वाले बच्चे आसपास ज़मीन पर बैठे-बैठे ये भजन सुन-सुन झूमते रहते हैं।

लेकिन आसपास बसे उच्च-मध्यमवर्गीय परिवारों को यह सारा शोर-शराबा नागवार गुज़रता है। यह उजड्ड उल्लास सह नहीं पाते वे। उनकी शांति जो भंग होती है इस सबसे। अत्यधिक विरोध करते हैं वे। वे तो चैन से बैठकर शाम को शराब पीने का आनंद लेना चाहते हैं, और बतियाना चाहते हैं प्यार-व्यार के चक्करों पर, पुस्तकों पर या फिर दफ्तर में अपनी उन्नतियों के बारे में। संगीत-वंगीत यदि कोई हो भी तो बाल-मुरली या कुमार-गंधर्व का हो, यह सब क्या तमाशा है!

गरीब लोग अच्छा गा नहीं सकते। उनके स्वर कर्कश-से हो जाते हैं, जैसे इर्द-गिर्द की गर्द उनके फेफड़ों में जा धंसी हो। फिर भी चाहे जो कोई भी एतराज़ करे, गणेश-पूजन में तो इनका जाना बंद हो नहीं सकता। मर्द लोग खूब पीकर ऊंचे स्वर में अपनी भक्ति-भावना व्यक्त कर रहे हैं। भजन की लय कुछ इस

तरह उठ रही है, गोया थककर मंपेरे के पिटारे में कुंडली मारे पड़ा कोई सर्प सहमा फन उठाकर झूमने लगा हो।

मेरे ड्राइंगरूम में जिस समय कुछ सुसंस्कृत स्वर काव्य पर विवाद कर रहे थे, तब भी मेरे कानों में उन मकानों के मस्ती-भरे स्वर पड़ रहे थे। आखिर एक शाम जब मुझसे रहा नहीं गया तो मैं अपने पति को घसीट ले गई उस बस्ती में। मन में उत्कंठा थी उन लोगों को देखने की। मंच पर बैठे हुए गानेवालों ने अपने स्वर धीमे कर दिए हमें आए देखकर। भले ही हम बाहरी लोग थे उनके बीच, फिर भी उन्होंने हमारा स्वागत किया। बच्चे भी हमें अपने बीच पा खिल उठे थे। एक दंत विहीन वृद्ध ने हमें अपने पास मंच पर बैठ जाने को कहा। उनके सद्व्यवहार ने मोह लिया था मुझे। सोचने लगी कि आखिर हम कौन होते हैं इनके देवता के पास बैठने वाले?

हम बच्चों के पास ही जमीन पर बैठ गए। सब बच्चे नहाए-धोए बैठे थे। पाटलकाष्ठ के तराशे हुए गुड्डों-से चमक रहे थे। हमारी उपस्थिति के कारण कुछ देर को तो गानेवालों का स्वर कुछ मद्धिम हो गया, परन्तु फिर उसी पंचम पर जा पहुंचा था। आखिर क्या मिल गया था उन्हें जीवन में, जो इतने प्रसन्न हो रहे थे? सुबह से शाम तक बेचारे तनतोड़ मेहनत कर-करके सीमेंट-भरे तसले उठा-उठाकर मचानों पर चढ़ने-उतरने रहते, मगर फिर भी मुझसे कहीं अधिक स्वस्थ, मगन और आशावादी थे। उस शाम जब मैं घर लौटी तो लगा कि निरर्थक जीवन जी रही हूं। अपने घरवालों और ड्राइंगरूम के फर्नीचर के बारे में सोचती रहने के सिवा कर ही क्या रही हूं मैं?

वास्तव में कितना व्यापक था यह संसार! और मेरा विषाद तो इसके एक छोटे-से कोने में दुबके पड़े काले कुत्ते के समान था। कितनी मूर्ख थी मैं, जो यह सोचे बैठी थी कि मैं क्योंकि कमला हूं, इस नाते औरों से अलग हूं और बाकी सब लोगों से अलग है मेरी नियति।

इस विचार ने हमें भ्रमित किया हुआ है कि हमारी दुनिया गोल है और हमारा जीवन आवागमन का चक्र है। यदि हम भूत, वर्तमान और भविष्य को भुलाकर वस्तुओं, भावनाओं, व्यक्तियों के सम्मिलित विशाल कोलाज के रूप में जीवन को देखने लगें तो हम बंद कर देंगे मरे हुओं का शोक मनाना, जीवितों के घेरे में घिरना और धन-दौलत जुटाना।

जो है, वह रहेगा ही, बदलती रहेंगी सिर्फ बनावटें। हो सकता है, कल को मेरी आत्मा इन मकान बनाने वालों में से किसीकी औरत के गर्भ में प्रवेश कर जाए और मैं उन्हीं के प्रसन्नचित्त बच्चों की तरह गणपति की मूर्ति के आगे बैठी होऊं। खुशियां और गम दोनों ही मेरे हैं। मुझे ही भोगने हैं और कोई अंत नहीं मेरा। किसी चीज का भी कोई अंत नहीं होता। असल में अंत कोई परेशानी का कारण नहीं होता। परेशान तो हम रहते हैं विकलता से, व्यग्रता से।

अक्सर सोचती हूं, डूब जाऊं कहीं और छुटकारा पा लूं अपने अकेलेपन से;

पर शायद मैं अकेला ही ऐसा नहीं सोचता, सभी स्वाभाविक रूप से ऐसा ही सोचते हैं। अपने जीवन के झंझटों से छुटकारा पाने के लिए समुद्र में डूबकर चैन पाना चाहा है मैंने, लेकिन कैसा बचकाना विचार है! कितनी छोटी-सी भूख है! शार्क (एक प्रकार की बड़ी विशाल मछली) की भूख किस कदर बड़ी होती है मेरी भूख से!

हम सबमें हमारी अन्य भूखों को मिटाने वाली एक भूख होती है—बुनियादी भूख, कि हम अपने स्वयं के सशक्त अंश अन्य वस्तुओं में घुलाके बनाए रखें; लेकिन आखिर एक दिन हम इस सत्य को खोज ही लेंगे कि हम तो अमर हैं, जबकि ये व्यवस्थाएं और प्रणालियां अमर नहीं हैं।

यहां तक कि हमारे दु:ख-दर्द भी उनमें बने रहेंगे, जिन्होंने हमें निगल लिया। उलझन के इन पिंजड़ों से बच निकलने का कोई रास्ता नहीं। अमरत्व के शिकंजे में जकड़े हुए हम अगर स्वतंत्र हैं तो सिर्फ व्यग्र रहने के लिए ही…

५०

मौत से डरना छोड़ दिया मैंने

दो महीने पहले की बात है, बम्बई के एक प्रसिद्ध हृदय-रोग-विशेषज्ञ, जोकि हमारे मित्र भी हैं, मेरा ई० सी० जी० लेने हमारे यहां आए। मेरी जांच करके चिंतित हो आए। बोले, "जितनी जल्दी हो सके, नजदीक के किसी अस्पताल में दाखिल हो जाओ। तुम्हारे दिल की तो यह हालत है कि हर समय दिल की जांच होती रहनी चाहिए।"

दिनोंदिन मेरा स्वास्थ्य गिरता जा रहा था। मुंह और पैरों पर सूजन आ गई थी। इस कदर लाचार हो गई थी कि बिस्तर से उठ ही नहीं सकती थी।

फिर उसने मेरा हाथ अपने हाथों में लेकर कहा, "देखो, तुम अगर इतनी समझदार और बहादुर न होतीं तो मैं तुम्हें इस तरह चेतावनी न देता। रोना चाहती हो तो जरूर रो लो, लेकिन झटपट अपना सामान समेटो और शाम से पहले-पहले अस्पताल चली जाओ।" कहकर उसने एक सिगरेट सुलगा ली।

मैं चुपचाप पड़ी रही। मैंने उसे यह भी बताना नहीं चाहा कि किसी-किसी दिन जब मैं सोकर उठती हूं तो मेरी आंखों के नीचे भी सूजन आई होती है और यह कि मैं सुबह की प्रार्थना के समय भी बेहोश होकर कई-कई बार गिर चुकी हूं। लगभग एक घंटे तक लगातार पालथी मारकर प्रार्थना किया करती, मंत्र जपा करती और बैठी-बैठी ही अचानक फर्श पर लुढ़क पड़ती। जब-जब भी मेरे पैर सूजते, मैं उन्हें साड़ी में ढक लेती; और जब-जब भी मेरे सीने में बाईं ओर या बाजू में उमेड़ता हुआ दर्द उठता, मैं एक-आध प्राणरक्षक गोली निगल लेती, जिसकी गर्मी

मेरी नसों में दौड़ने लगती। मैं इन सारी चेतावनियों से अनभिज्ञ नहीं थी, लेकिन फिर भी नहीं चाहती थी कि एक बार फिर, अस्पताल में जा पड़ूं। जाने कैसा-कैसा मन हो जाता है अस्पताल का ध्यान आते ही !

अस्पताल मुझे सदा से ही ऐसा नक्षत्र लगा है, जो हमारी परिचित धरती और अजनबी मौत की दुनिया के बीच कहीं दबा हुआ है। जब-जब भी मैं किसी अस्पताल में दाखिल होती हूं तो बेतरह चाह उठती हूं कि एकदम अकेली पड़ी रहूं, कोई मेरे सामने न पड़े। रोग तो मेरा जीवन-संगी बन चुका है—रक्त, नसों और हड्डियों के बंधनों में बंधा हुआ, और मैं काफी देर तक पड़ी-पड़ी इससे गुप्त वार्तालाप करती रहती हूं। अपने हृदय-रोग से कहती हूं कि अभी तो मैं चालीसेक साल की ही हुई हूं और मेरा छोटा बेटा अभी तक सोते-सोते अपना दायां अंगूठा चूसता रहता है और बायां हाथ मेरी छातियों पर टिकाए रहता है।

मैं उसे यह भी कहती हूं कि मेरे पुश्तैनी मकान की मरम्मत हो रही है, सीमेंट की कमी के कारण उसमें पलस्तर होना बाकी है और मेरी बड़ी इच्छा है कि मरने से पहले कम से कम एक साल तक तो उसमें रह ही लूं। मैं गिड़-गिड़ाकर कहती हूं अपने रोग से कि वह शांत कर दे मेरे पहलू में उठे दर्द को।

जैसे ही आप अस्पताल में भरती होते हैं तो आ टपकता है डॉक्टर किसी मध्ययुगीन शूरवीर की तरह आपकी मौत के अजगर से युद्ध करने। बिस्तर के पास आकर एक नर्स की मदद से आपके कपड़े उतरवाएगा और फिर तलाशेगा रोग के ढके-छिपे लक्षण, जिनकी सहायता से वह आगे चलकर अंतिम निदान पर पहुंचेगा। उसके हाथों की छुअन शरीर में तैर जाती है और जिल्द जामनी-सी हो जाती है।

दरवाज़े पर बाहर खड़े आपके घरवालों से बड़े औपचारिक ढंग से बात करता है। आपको कुछ सुनाई नहीं पड़ता, सिवाय असंगत-सी कुछ फुसफुसाहटों के। इसके अलावा तब तक आप लापरवाह भी हो चुके होते हैं। मात्र एक नंबर बन गए होते हैं। नर्स जब आपके कपड़े उतारकर ले जाती है तो लगता है, कपड़ों के साथ-साथ आपके व्यक्तित्व की विशिष्टताएं भी उतारकर ले गई है; और फिर आ धमकते हैं रक्त, थूक, पेशाब और टट्टी टेस्ट करने वाले। छोटी-छोटी जैम की शीशियों में इन सबके सील बंद हो जाने पर कुछ ऐसा लगता है, मानो आपके झूठे अहं का एक-एक चिह्न और लक्षण हट-कट गया है। एक्स-रे वाले कमरे में एक और नर्स आकर आपके कपड़े उतारती है और जो वार्ड-बॉय आपको ठेलकर यहां तक लाया था, वह अंधेरे में छिप-छिपकर ताकता रहता है, मानो उसने जो श्रम किया, उसका वह पारिश्रमिक वसूल रहा है आपके अनावृत उरोजों को देख-देखकर।

तभी गूंज उठती है एक गंभीर गरजदार आवाज़ कि लम्बी-लम्बी सांस लो, और उस ठंडी मेज़ पर पड़े-पड़े आप मन ही मन मुस्कराना चाह उठते हैं, क्योंकि आप जानते हैं, यदि लम्बी-लम्बी सांस लेना इतना आसान रहा होता तो आप यहां

आए ही नहीं होते, फिर तो आप कहीं टहल रहे होते अपने नन्हे-मुन्ने का हाथ थामे या फिर देख रहे होते कोई सिनेमा अथवा बैठे होते महकारते वृक्षों तले पिकनिक मनाते।

नहीं, मैं कभी सपने में भी नहीं सोच सकती कि अब किसी अस्पताल में जाऊं। और यह बात मैंने उस डॉक्टर से भी कह दी थी। उसने मिन्नबत कंधे बिचका दिए थे। उसके सिगरेट के धुएं से मेरा कमरा भर गया था।

ऐसा नहीं है कि मैं डरती हूं टीके आदि लगवाने से। ये तो सिर्फ इसलिए था कि मुझमें अब मौत का डर रहा ही न था और यह बात भी मैंने उससे कह दी थी।

वर्षों से मेरे मस्तिष्क पर मृत्यु का विचार छाया हुआ है, और मैं अब यह विश्वास करने लगी हूं कि जीवन मात्र एक स्वप्न है और एकमात्र वास्तविकता है मृत्यु। इसका और कोई ओर-छोर नहीं। मानवीय अस्तित्व से पहले भी थी और बाद में भी रहेगी। हम जितना ही इस सत्य को समझने के लिए डूबेंगे, उतना ही इसका महत्त्व समझेंगे। जीवन तो बावजूद अपने सारे-सारे भावनात्मक उलझावों के वैसा ही बेकार है, जैसा कि बहते पानी पर कुछ लिख देना। लगता है, हम मात्र सहयोगी हैं किसी और के सपने में।

अब मैं शांत हूं। तुलना करता हूं भगवान की एक ऐसे पेड़ से, जिसके सारे अंग—पत्ते, छाल, फूल,फल, हर कुछ अलग-अलग है, कुछ भी तो आपस में नहीं मिलता, किसीकी भी बनावट एक जैसी नहीं है, लेकिन हर अंश में, हर अंग में तत्त्व है उस पेड़ का, उसके अस्तित्व का। आखिर यह सब है क्या? हर अंग की, हर अंश की अपनी नियति है। फूल खिलते हैं, परागमय होते हैं, सूख जाते हैं। फल पकते हैं और झड़ जाते हैं। छाल उखड़ जाती है। हममें से हर कोई नतशिर है उस विशाल विद्वत्ता के सम्मुख, जो कि जड़मूल है सारी-सारी विद्वत्ता की और उद्गम है सारी-सारी चेतना का।

पीछे छूट गई है मेरी रंगीन जवानी। शायद कुछ ऐसी ही लापरवाही से मैंने अपनी खुशियों में पानी मिलाया था, जैसे कि शराब के पैगों में मिलाती रही हूं। इसीलिए रीत-बीत गई हूं इतनी जल्दी। लेकिन क्या फर्क पड़ता है! पड़ता है कुछ? भले ही मैं थक-टूट गई हूं, ठंडी हो गई हूं। तरेरसाई प्लेट सा हो गया है मेरा दिल, जिसकी सारी-सारी पकड़ खो चुकी है अब; लेकिन अब भी सांझ को आ टपकते हैं मेरे प्रेमी मेरे द्वार पर भीगी आंखें लिए और दोहराते हैं वे शब्द, जो कभी मैंने कहे थे।

शायद मैं जल्दी ही मर जाऊं और शेष रह जाएंगे सिर्फ वे जेवर, जिनसे दुल्हन-सा सजाती थी मैं अपना शरीर, और करती थी इंतजार अपने प्रेमी के आने का; और बच रहेंगी ये किताबें, जो मैंने जुटाई थीं या फिर ये कांस्य-मूर्तियां, जिनकी मैं पूजा करती रही हूं, फूल चढ़ाती रही हूं। सब कुछ रहेगा, बस मैं ही नहीं रहूंगी।

मेरे शोक-संतप्त बेटे बटोर लाएंगे मेरी चिता से मेरी हड्डियों के अवशेष और कुछ राख, लेकिन फिर भी चलता रहेगा यह संसार। सूख जाएंगे ये आंसू मेरे बेटों के गालों से। उनकी बहुएं जनेंगी योग्य बच्चे। मेरी अगली पीढ़ियों से बसी होगी यह धरती। काफी है मेरे लिए···काफी से भी ज़्यादा···

•••